वीर सेवा मन्दिर
दिल्ली

★

४४०४

क्रम सख्या 232 जैन

काल न०

खण्ड

आत्म-रहस्य

•

रतनलाल जैन

सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन

आत्म-रहस्य

[आत्मा, सत्य और दर्शन-मीमांसा]

लेखक

श्री रतनलाल जैन

सस्ता साहित्य मण्डल

नई दिल्ली

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय, मंत्री
सस्ता साहित्य-मडल
नई दिल्ली

प्रथम बार : १९४८

मूल्य
तीन रुपए

मुद्रक
जे० के० शर्मा
इलाहाबाद लॉ जर्नल प्रेस
इलाहाबाद

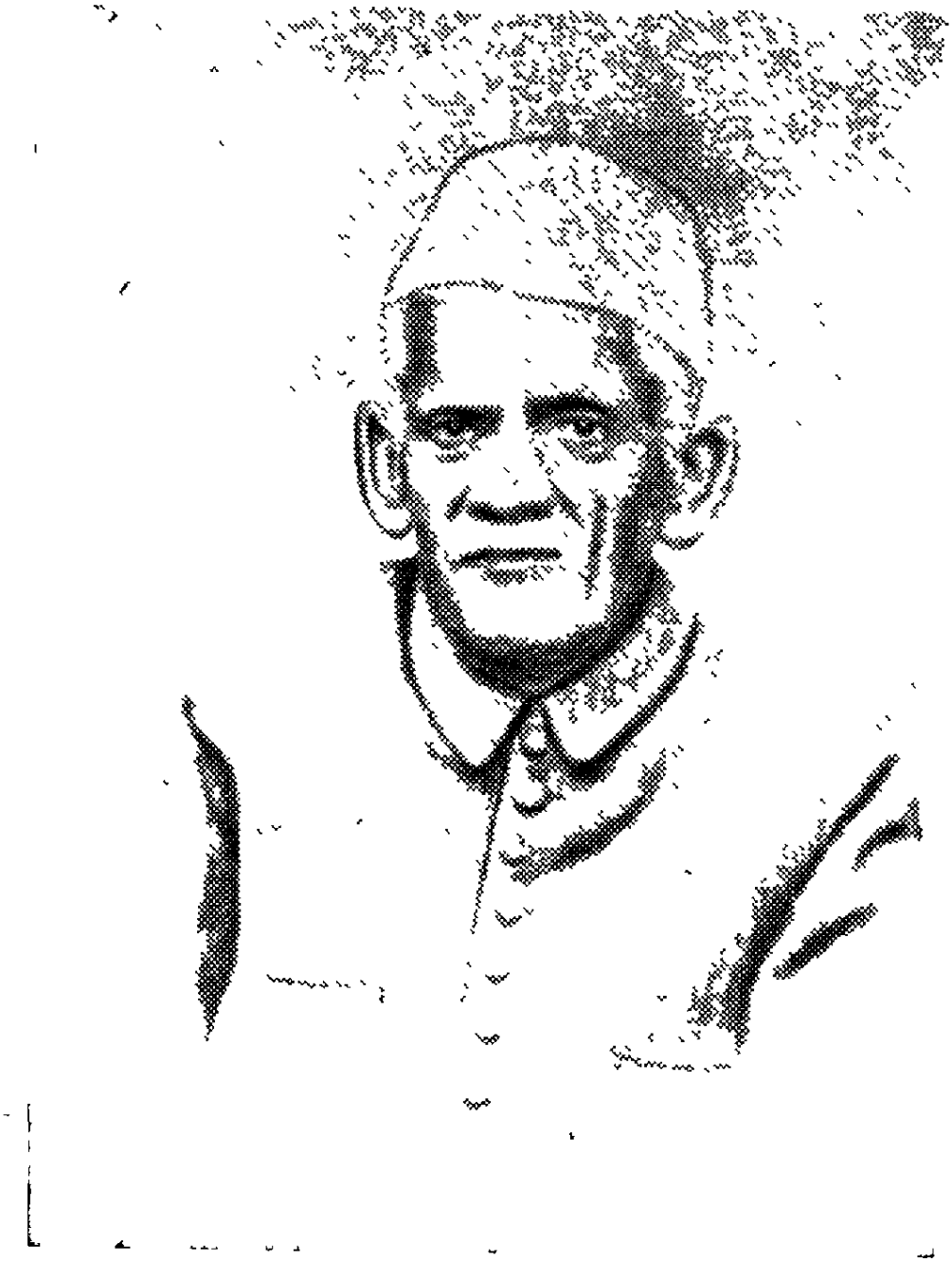

स्व० ला० हीरालाल जैन

समर्पण

पूज्य पिता स्वर्गीय
ला० हीरालाल जी
के चरणों
में

यह पुस्तक

मैं 'आत्मरहस्य' को पढ़ गया। इसमें लेखकने यह दिखलाने का प्रयास किया है कि न केवल विभिन्न धर्म और दर्शन, प्रत्युत आधुनिक विज्ञान और मनोविज्ञान भी सच्चिदानन्द-स्वरूप आत्मा का प्रतिपादन करते हैं। विभिन्न विचारको के दृष्टिकोण विभिन्न हैं। यह भेद कुछ तो विचारकों के रुचि-भेदके कारण उत्पन्न हुआ है, कुछ देशकालगत परिस्थितियो ने उनको इस बात के लिए विवश किया कि पदार्थ के पृथक-पृथक पहलुओ को अधिक महत्त्व दे। इस नयभेद के कारण पदार्थ के वर्णन में वैषम्य का पाया जाना स्वाभाविक है, परन्तु यदि वैषम्य के कारण को ध्यान मे रख कर निष्पक्ष तर्क से काम लिया जाय तो विभिन्न मतों का समन्वय करके आत्मा के स्वरूप का परिचय मिल सकता है। आत्मा के स्वरूप के साथ-साथ जगत् के स्वरूप, कर्मफल की प्राप्ति-अप्राप्ति आदि कठिन समस्याओ की ग्रथियाँ भी खुल सकती हैं। रतनलालजी ने ग्रथियो को खोला भी है। वह जिस परिणाम पर पहुँचे है, वह बहुत दूर तक तो, वार्हस्पत्य विचारधारा को छोडकर, सभी भारतीय दर्शनों की समान भूमिका और सम्पत्ति है। इसके आगे उनके विचार उन विशेष तथ्यों की ओर झुके हैं, जिनका प्रतिपादन जैन आचार्यों ने किया है।

. .जहाँ तक पुस्तक का उद्देश्य यह प्रतिष्ठापित करना है कि आत्मतत्त्व विचारणीय है, हमको जगत् के भौतिक स्वरूप-मात्र को इतिश्री न मान लेना चाहिए, विचार मे असहिष्णु होकर इदमित्थमेव न मानकर विभिन्न पहलुओ को देखकर सतुलन करना चाहिए, आत्म-स्वरूप को पहचानने के लिए मनन के साथ-साथ त्याग, तप, समाधि की आवश्यकता है, वहाँ तक मै रतनलालजी को उनकी सफलता पर बधाई देता हूँ। प्राच्य और पाश्चात्य विचारो का एक ही जगह अच्छा सग्रह हुआ है और यह सग्रह बुद्धि को अकुश देकर सोचने के लिए विवश करता है।

—सम्पूर्णानंद

वैशाख शु० १, २००५ शिक्षा-मत्री, सयुक्तप्रांतीय सरकार

प्राक्कथन

दीर्घकालीन पराधीनता के पश्चात् भारत स्वतंत्र हुआ है। आज हम उसके उज्ज्वल भविष्य की ओर दृष्टि लगाये हुए है। भारतमाता का प्रत्येक सपूत उसकी आर्थिक, राजनैतिक आदि उन्नतिकी योजना बनाने व कार्यान्वित करनेमे संलग्न है। सैनिक शिक्षा अनिवार्य करके समस्त देश के शस्त्रीकरण में ही कुछ सज्जनो को भारत का कल्याण दीखता है। कुछ को भारत में बडे-बडे कारखाने खोलकर उत्पादन बढाने में ही भारत की भलाई प्रतीत होती है। और कुछ पाश्चात्य देशो के समाजवाद मे ही भारत का हित समझते है।

मेरी धारणा है कि जबतक हमारी उन्नति का आधार अध्यात्मवाद या वैज्ञानिक धर्म नही होगा तबतक मानव-समाज का वास्तविक कल्याण नही हो सकेगा तथा एक के बाद दूसरे महा भयकर युद्ध उपस्थित होकर इस ससार को काल कराल के मुह मे झोकते रहेगे। आज भी ससार तीसरे महायुद्ध की ओर बड़े वेग के साथ दौड रहा है। मेरी भावना है कि अध्यात्मवाद को आधार मान कर भारत की आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक, सैनिक आदि समस्त क्षेत्रो मे इतनी उन्नति की जाए कि कोई भी राष्ट्र उसको बुरी दृष्टि से देखने का साहस न कर सके तथा भारत ससार को अहिसा व प्रेम का पाठ सिखाकर उसका आध्यात्मिक नेतृत्व कर सके।

महात्मा गाधी द्वारा संचालित सत्याग्रहो मे भाग लेने के कारण मुझे अनेक बार कारावास मे कितने ही समय तक रहना पड़ा है, जहां अध्ययन, मनन व लिखने के स्वर्ण अवसर प्राप्त हुए हैं। सन् १९३० व

१९३२ के सत्याग्रहो के समय मे इस पुस्तक को लिखा था। साथी विद्वानों ने पढकर कितने ही सुझाव दिये जिनके अनुसार इस पुस्तक में सशोधन कर दिये गये। सन् १९३२ के कारावास के पश्चात् इस पुस्तक को स्वर्गीय ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी व श्री नाथूरामजी 'प्रेमी' ने पढ़कर उचित परामर्श दिये। उनके परामर्शानुसार सशोधन करके पुस्तक को अधिक सुदर बनाया गया। लेकिन सार्वजनिक कार्यों मे व्यस्त रहने के कारण पुस्तक में संशोधन करके शीघ्र ही प्रेस मे भेज न सका।

सन् १९४० व १९४२ के स्वतत्रता आदोलनो में फिर कारावास मे जाना पडा वहाँ पुस्तक को वर्तमान रूप दिया। साथी रघुनन्दन स्वामी ने इसकी भाषा को परिमार्जित किया है। जिन उपरोक्त तथा अन्य विद्वान साथियो ने इस पुस्तक को आधुनिक रूप देने मे सहायता दी है उनका मै आभारी हू। कारावास से १९४४ मे बाहर आने पर देश की विषम परिस्थिति तथा कागज की महगाई, दुर्लभता व मुद्रण की पाबन्दी ने इस पुस्तक के प्रकाशन मे और देर लगाई। भाई राजेन्द्रकुमार जी ने इलाहाबाद लॉ जर्नल प्रेस मे मुद्रण कराके तथा सस्ता साहित्य मडल ने प्रकाशक बनकर पुस्तक को जनता तक पहुचाने मे सहायता दी है, अतः उनका भी आभारी हूं।

मेरी धारणा है कि वर्तमान प्रचलित धर्मों के अन्तर्गत अध्यात्मवाद एकसा ही है। मनुष्य जैसे भिन्न प्रकार के वस्त्र धारण करके अनेक प्रकार का दिखलाई देता है ऐसे ही यह अध्यात्मवाद भिन्न-भिन्न देशो की भिन्न-भिन्न परिस्थिति के कारण भिन्न-भिन्न धर्मों के रूप मे दिखलाई देता है। यदि कोई व्यक्ति वस्त्रों से परिछिन्न मनुष्य को देखकर वस्त्र को ही मनुष्य समझ ले, वस्त्र से ढके हुए मनुष्य को मनुष्य न समझे तो यह उसकी भूल ही माननी होगी। ठीक यही दशा आज धर्मवादियो की हो रही है। अध्यात्मवादको अपने अन्दर छिपाये हुए क्रियाकाड व रीति-रिवाज को ये धर्म समझते है, उनसे परिछिन्न अध्यात्मवाद को

नहीं पहिचानते। यह भ्रम ही समस्त प्रकार की भूल व त्रुटियों का कारण है।

यदि इस पुस्तक के अध्ययन से पाठको के हृदय में जिज्ञासा उत्पन्न हुई और उनकी रुचि अध्यात्मवाद की ओर आकर्षित हुई तो मै अपने प्रयास को सफल समझूगा।

बिजनौर] —रतनलाल जैन

विषय-सूची

प्रथम भाग

आत्म अनुसंधान

	पृष्ठ
१—विज्ञानयुग	९
२—पदार्थ की दो श्रेणी	१२
(१) आत्मा व भौतिक पदार्थ	१२
(२) देखने सुनने वाला भौतिक पदार्थ से भिन्न है	१३
(३) जानने अनुभव करने वाला मस्तिष्क से भिन्न अखड मूल तत्व है	१४
(४) स्मृति रखने वाला पदार्थ पुद्गल से पृथक है	१६
(५) मनुष्य मे सकल्प शक्ति है	१७
(६) मनुष्य मे काम, क्रोध आदि भावनाएँ है	१७
(७) ज्ञान, सकल्प-शक्ति, रागद्वेषादि भावनाएँ आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करती है	१८
३—विज्ञान आत्मा के सम्बन्ध में क्या कहता है	२२
(१) विज्ञान का प्रारम्भिक काल	२२
(२) वैज्ञानिको के मत	२३
(क) श्री वर्गसन का मत	२३
(ख) पादरी बटलर व आचार्य टेडल का मत	२५
(ग) श्री मैकदूगल का मत	२८
४—मनोविज्ञान अनुसंधान समिति के अनुभव	३०
(१) व्यक्तित्व मे परिवर्तन	३०

पृष्ठ

(क) स्मृति का अकस्मात् नष्ट हो जाना ३०
(ख) एक ही समय में भिन्न-भिन्न व्यक्तित्व ३२
(२) अद्भुत ज्ञान चमत्कार ३३
(क) बुद्धि चमत्कार ३३
(ख) भविष्यत का ज्ञान ३५
(३) स्वप्न ३७
(४) हिप्नोटिज्म ३८
(५) चमकीले पदार्थ पर दृष्टि जमाना ३९
(६) विचार प्रेषण ४०
(७) क्या शारीरिक मृत्यु होने पर मनुष्य का व्यक्तित्व नष्ट हो जाता है ? ४२
(क) मनुष्य योनि मे जन्म ४३
(ख) प्रेतयोनि में जन्म ४४
१. प्रेतयोनि मे उत्पन्न होकर दिखलाई देना ४४
२. प्रेत योनि मे उत्पन्न होने के कितने ही समय पश्चात् दिखलाई देना ४५
३. प्रेत बोलते भी हैं ४५
४. प्रेतो का गृहवास ४६
५. प्रेतयोनि मे शरीर मनुष्य शरीर सदृश मूर्त्तिक नही होता ४७
६. मृत आत्मा से बातचीत करना ४७
५—आत्मा का वास्तविक स्वरूप ४९
(१) ज्ञानस्वरूप ४९
(२) आनन्द स्वरूप ५४
(३) अनन्त शक्ति ६२

पृष्ठ

(४) आत्मा सच्चिदानन्द है ६३

६—आत्मा का निवास-स्थान ६५

(१) तात्विक विवेचन ६५

(२) वैज्ञानिकों के मत ७०

७—आत्मा का अमरत्व ७४

(१) विज्ञानानुसार ७४

(२) तात्विक विवेचन ७६

(जीव का बनाने वाला कोई नही है) ७६

(३) पुनर्जन्म ८६

८—कर्म सिद्धान्त ८९

(१) क्या कोई कर्मफल दाता है ८९

(२) सिद्धान्तिक विवेचन ९७

(क) कर्मफल देने वाली शक्ति स्वयं प्राणी के भीतर सूक्ष्म शरीर के रूप में विद्यमान है ९७

(ख) कर्मफल किस प्रकार मिलता है १०३

(३) दार्शनिको के मत ११७

(क) ईसाई व इस्लामिक दर्शनों के मत ११७

(ख) भारतीय दार्शनिकों का मत ११८

(ग) साख्य व वेदान्तीदार्शनिकों के मत ११९

(घ) जैन दार्शनिकों का विशेष मत १२२

९—जगत का निर्माण १४०

द्वितीय भाग

सत्य मार्ग (चिदानंद प्राप्ति मार्ग)

१—क्या सच्चिदानन्द अवस्था प्राप्त की जा सकती है ? १४५

पृष्ठ

२—चिदानन्द स्वरूप प्राप्ति का मार्ग १५२

३—निवृत्ति मार्ग १६१

(क) गृहस्थधर्म (पच अणुव्रत) १६२

(ख) सन्यासधर्म (पच महाव्रत) १७०

४—प्रवृत्ति मार्ग १७७

(क) गृहस्थ के षट आवश्यक नियम १७७

(ख) सन्यासी के षट आवश्यक नियम १८६

तृतीय भाग

समन्वय या एकीकरण

१—साधारण विवेचन २०१

२—स्याद्वाद या अनेकान्तवाद २०८

३—दर्शनो की विभिन्नता के कारण २१४

४—दर्शनों का समन्वय २१८

(१-२) साख्य व योगदर्शन २१८

(३-४) न्याय व वैशेषिक दर्शन २२१

(५) वेदान्त या उत्तर मीमासा २२३

(६) पूर्व मीमासा २२६

(७) बौद्ध दर्शन २३२

(८) जैन दर्शन २३५

(९) ईसाई धर्म २३९

(१०) इसलाम २४५

५—उपसंहार २५३

प्रथम भाग

आत्म अनुसंधान

१—विज्ञान युग

प्रत्येक मनुष्य सुख की कामना करता है, उसकी तलाश में घूमता है। जिह्वा इन्द्रिय की तृप्ति के लिये अनेक प्रकार के स्वादिष्ट भोजन करता है। नेत्र व कर्ण इन्द्रिय की प्यास बुझाने के लिये नाच गाना थ्येटर सिनेमा आदि मे जाता है। घ्राण इन्द्रिय को सतुष्ट करने के लिये इत्र तेल आदि सुगधित पदार्थों का सेवन करता है, एवं नाना प्रकार के भोग विलास मे लिप्त होता है। धन को सुख का साधन समझकर उसकी प्राप्ति के लिये जुटता है। अनेक प्रकार के व्यवसाय करता है।

परन्तु इन इन्द्रिय सुखो से उसकी तृप्ति नही होती। जितना अधिक सेवन इनका किया जाता है उतनी ही अधिक वासना प्रज्वलित होती जाती है। इस वासना का कभी भी अन्त नही होता। इसके अतिरिक्त इन्द्रिय सुख अस्थिर है; जब तक इनके भोग उपभोग मे लगा रहता है तब-तक ही उनके स्वाद का आनन्द आता है, ज्योही इन्द्रिय सुख का सेवन बन्द किया, त्योही उसका आनन्द भी समाप्त हो गया, केवल तृष्णा (चाह) शेष रह जाती है। इस प्रकार यह इन्द्रिय सुख, अस्थिर, क्षणभगुर एव दुख रूप है।

अनेक प्रयत्न करने पर भी जब सुख उसको नही मिलता, उसकी इच्छा स्वभावत· सुख के स्वरूप जानने की होती है। सुख के स्वरूप जानने की उत्कठा के साथ साथ, उसके हृदय मे अनेक प्रश्न उठने लगते है जैसे कि "मै कौन हू", "कहा से आया हू", "मेरा 'वास्तविक' स्वरूप क्या है", "इस जीवन का उद्देश्य क्या है" आदि आदि।

इन प्रश्नो के समाधान के लिये, उसका ध्यान सहज ही अपने पूर्वज महान ऋषियों की कृति की ओर जाता है, उनके रचित धार्मिक ग्रथों

के अध्ययन में लगता है। भिन्न भिन्न धार्मिक ग्रंथो के पढने से ज्ञात होता है कि भिन्न भिन्न आचार्यो ने उपरोक्त प्रश्नों का समाधान भिन्न भिन्न प्रकार से किया है; कही कही इनका समाधान परस्पर विरोधी है। भिन्न भिन्न प्रकार के उत्तरो को पढकर उसका हृदय और भी उलझन मे पड जाता है। उसकी समझ मे नही आता कि वह किसके कथन को सत्य माने और किसके को असत्य।

इसके अतिरिक्त इन धार्मिक ग्रंथों मे जिस शैली का अनुकरण किया गया है उससे हृदय को सतोष नही होता। इनकी शैली वैज्ञानिक पद्धति से मेल नही खाती। यह युग विज्ञान का है। मनुष्य की बुद्धि तीव्र एव सूक्ष्म आलोचिका हो गई है, वह किसी बात को भी बिना अनुसन्धान व अन्वेषण किये मानने को तय्यार नही।

कुछ धार्मिक ग्रथो मे तो ऐसा मान लिया गया है कि अमुक अवतार, पैगम्बर या महर्षि ने ऐसा कहा है, इसलिये यह मान्य है, किसी को यह अधिकार नही कि उसकी आलोचना करे। किसी किसी ग्रथ मे तर्क से भी काम लिया गया है, परन्तु इस तर्क से भी सन्तोष नही होता। ऐसी दशा मे मनुष्य बडी उलझन मे पड जाता है और उसकी बुद्धि कुछ भी काम नही देती। निराश होकर वह अपने मन को उपरोक्त प्रश्नो के समाधान से हटाता है। उसे प्रतीत होने लगता है कि इन प्रश्नो के समाधान मे लगना निरी मूर्खता है। उसका मन धार्मिक कामो से हट जाता है। उनको लोक-अपवाद के भय से करता है, परन्तु उनमे उसका मन तनिक भी नही लगता। ऐसी परिस्थिति मे वह नास्तिकता की ओर शीघ्रता से बढता है, विवश हो सांसारिक एवं गृहस्थ के कार्यों मे व्यस्त होता है।

अतः इस पुस्तक में किसी अवतार, पैगम्बर, देव या महर्षि द्वारा कथित शास्त्र को आधार नही माना है। प्रत्येक प्रश्न का समाधान वैज्ञानिक ढग पर किया गया है। पहिले भाग मे अनुसन्धान द्वारा यह निश्चय किया गया है कि मनुष्य शरीर के भीतर एक अदृश्य पदार्थ और है, जिसको

आत्मा के नाम से पुकारा जा सकता है; उस आत्मा का वास्तविक स्वरूप चिदानन्दमयी है। यह भी निश्चय किया गया है कि यह आत्मा ससार मे क्यो भ्रमण कर रहा है। दूसरे भाग मे उस सत्य मार्ग का विवेचन किया गया है कि जिस पर चलकर आत्मा अपने वास्तविक चिदानन्द स्वरूप को प्राप्त करके आनन्द का उपभोग अनन्त काल तक कर सकता है। तृतीय अर्थात् अन्तिम भाग में यह दिखलाया गया है कि वर्तमान प्रत्येक धर्म व दर्शन मे बहुत कुछ सत्य है, जो अन्तर इन धर्म व दर्शनो मे दिखलाई देता है, वह भिन्न भिन्न आचार्यों के द्वारा आत्मा के भिन्न भिन्न गुण व अवस्थाओ का भिन्न भिन्न दृष्टिकोणो से निरूपण द्वारा उत्पन्न हुआ है। अन्त मे वर्तमान मुख्य दस धर्म व दर्शनो का समन्वय किया गया है।

२—पदार्थ की दो श्रेणी

(१) आत्मा व भौतिक पदार्थ

ससार के पदार्थों पर दृष्टि डालने से ज्ञात होता है कि जगत के समस्त पदार्थों को दो श्रेणियो मे विभक्त किया जा सकता है :—पहिली श्रेणी मे उन समस्त जीवित पदार्थ या जीवों को रख सकते है, जिनमे नेत्र के द्वारा ससार की भिन्न भिन्न वस्तुओ के देखने, कर्ण के द्वारा दूसरो की बाते, गाना आदि सुनने की शक्ति है, जो वस्तुओ को पहचान एव उनके भले बुरे होने पर विचार कर सकते है; जो सुख दुख को अनुभव करते है, जिनमे काम क्रोध आदि भावनाए, इच्छा द्वेष आदि वासनाए पाई जाती है; जो पिछली बातो का स्मरण रख सकते है और जिनमे सकल्प शक्ति पाई जाती है। इस श्रेणी मे मनुष्य, गाय, बैल, आदि पशु, कोयल, तोता, आदि पक्षी, मगर, मच्छ आदि जलचर आते है।

दूसरी श्रेणी मे इस जगत के वे समस्त भौतिक पदार्थ आते है, जिनको हाथ से स्पर्श, नेत्र से अवलोकन या कान से श्रवण किया जाता है, जिनमे खट्टा, मीठा, कडवा आदि किसी न किसी प्रकार का स्वाद है, जिनसे किसी न किसी प्रकार की सुगन्ध या दुर्गन्ध आती है, परन्तु उनमे न पदार्थो के देखने, शब्द सुनने, पहली बातो के स्मरण रखने, पदार्थो के पहचानने, संकल्प शक्ति आदि का अस्तित्व है, और न जिनमे काम क्रोध आदि वासनाए पाई जाती है। इस श्रेणी मे समस्त चिरपरिचित भौतिक पदार्थ जैसे पत्थर, मिट्टी, बालू, मेज, कुरसी आदि घन पदार्थ, जल, दूध, मदिरा, रुधिर आदि द्रव पदार्थ, वायु आदि तरल पदार्थ आते है।

पहली श्रेणी के मनुष्य आदि पदार्थ की जब परीक्षा की जाती है तो

ज्ञात होता है कि मनुष्य को भी दृश्य व अदृश्य दो विभागों में विभक्त किया जा सकता है :—

मनुष्य का दृश्य भाग तो दूसरी श्रेणी के भौतिक पदार्थ से बिल्कुल मिलता जुलता है। वह नेत्र के द्वारा दृष्टिगोचर, हस्त के द्वारा स्पर्श किया जाता है, उसके शरीर से गन्ध आती है। मनुष्य जब मर जाता है, उसका दृश्य भाग पडा रहता है और जब उसका अग्नि मे दाह सस्कार किया जाता है तो कुछ भाग जलकर वायु मे मिल जाता है, शेष भाग राख या हड्डी के रूप मे पडा रहता है, जो नि:सन्देह भौतिक पदार्थ है। इसी प्रकार मनुष्य का शरीर दूध, जल, फल, अन्न आदि भौतिक पदार्थों के द्वारा बाल अवस्था से पोषित होकर प्रौढ अवस्था को प्राप्त होता है। इन बातो से स्पष्ट है कि मनुष्य का दृश्य वाह्य भाग शरीर नि सन्देह भौतिक पदार्थ का बना हुआ है। मनुष्य के अदृश्य भाग की परीक्षा अब शेष रहती है।

(२) देखने सुनने वाला भौतिक पदार्थ से भिन्न है

मनुष्य जब किसी पदार्थ को देखता है तो उस पदार्थ का चित्र उसके नेत्रो के अन्दर पुतली के पीछे बनता है और वहा से वह चित्र सूक्ष्म तन्तुओ के हलन चलन द्वारा मस्तिष्क तक पहुचता है। यदि उस व्यक्ति का ध्यान उस पदार्थ की ओर होता है तो वह पदार्थ उसको दिखलाई देता है एव उसके अस्तित्व का भान उसको होता है। फिर वह व्यक्ति उस पदार्थ के गुण दोष आदि बातों पर विचार करता है।

यदि उस व्यक्ति का ध्यान उस पदार्थ की ओर नही होता है तो वह पदार्थ आखो के सामने होता हुआ भी दिखलाई नही पड़ता है, न उसके अस्तित्व का भान होता है। इस दशा मे भी उस पदार्थ का चित्र आंख के भीतर पुतली के पीछे बनता है और वह सूक्ष्म तन्तुओं द्वारा मस्तिष्क तक पूर्ववत पहुचता है। केवल अन्तर यह है कि उस व्यक्ति का ध्यान इस दशा मे उस पदार्थ की ओर नही है।

नेत्रो के सामने पदार्थ होने पर, उसका चित्र नेत्रो के भीतर पुतली के पीछे बनना एव सूक्ष्म तन्तुओ के हलन चलन द्वारा मस्तिष्क तक पहुंचना, वैज्ञानिक नियमानुसार, बराबर होता रहता है; परन्तु मनुष्य के ध्यान पर विज्ञान का कोई भी नियम लागू नही होता। मनुष्य का ध्यान विज्ञान के समस्त परिचित नियमो से नितान्त स्वतत्र एवं भिन्न है।

यही दशा शब्द सुनने के समय होती है। शब्द कान तक पहुंचता है, वहां से सूक्ष्म तन्तुओ के हलन चलन द्वारा मस्तिष्क तक पहुच जाता है। यदि उस व्यक्ति का ध्यान शब्द की ओर है तो वह शब्द सुनाई पडता है; यदि उसका ध्यान किसी अन्य वस्तु की ओर लगा है और उस शब्द की ओर नही है तो वह शब्द पास होता हुआ भी, सुनाई नही पडता है।

इससे ज्ञात होता है कि मनुष्य के अन्दर भौतिक पदार्थ के अतिरिक्त कोई अन्य सूक्ष्म पदार्थ है, जिसके ध्यान देने पर मनुष्य निकटवर्ती वाह्य वस्तुओं को देख या पास होने वाले शब्द को सुन सकता है और यदि उस सूक्ष्म पदार्थ का ध्यान वाह्य वस्तु या शब्द की ओर नही है तो वह व्यक्ति उस समीपवर्ती वस्तु को न देख सकता है और न पास में होने वाले शब्द को सुन ही पाता है।

(३) जानने अनुभव करने वाला मस्तिष्क से भिन्न अखंड मूलतत्व है

मनुष्य मे जानने, विचारने एवं अनुभव करने की शक्ति है। किसी भी भौतिक पदार्थ मे यह गुण नही पाया जाता। भौतिक पदार्थ के बने हुए एजिन को ले लीजिये, वह मनुष्य की भाति चलता फिरता है। कोयला, पानी के रूप मे भोजन करता है परन्तु उसमे विचारने सोचने, अनुभव करने की शक्ति का सर्वथा अभाव है।

मनुष्य के सामने जब कोई बात होती है तो वह उस पर विचारता है। उस बात की लाभ हानि एव गुण दोष पर ध्यान देता है व अनेक प्रकार की योजनाए बनाता है। इन सब बातो का भौतिक पदार्थ के बने एंजिन में सर्वथा अभाव है। अब प्रश्न उठता है कि यह ज्ञान व अनुभव मनुष्य में कहा से आया ?

यदि यह कहा जावे कि किसी घटना या पदार्थ के सन्मुख उपस्थित हो जाने पर मस्तिष्क या शरीर के किसी भाग से एक प्रकार का सूक्ष्म पदार्थ निकलता रहता है, जो विचारने या सोचने का कार्य करता है तो ऐसी दशा मे यह मानना होगा कि समय समय पर भिन्न भिन्न घटना व बातो के सम्मुख उपस्थित हो जाने पर पृथक पृथक् सत्ता रखने वाले सूक्ष्म पदार्थ निकलते रहते है, जो विचारने आदि का कार्य करते है। यह भी मानना होगा कि मनुष्य के अन्दर पृथक्-पृथक् सत्ता रखने वाले ऐसे असख्यात सूक्ष्म पदार्थ है, जो भिन्न-भिन्न समय मे सोचने का कार्य करते हैं। सूक्ष्म पदार्थ भिन्न-भिन्न घटना व बातो से उत्पन्न हुए है, इसलिए इन पदार्थों का कार्य व विचारने की शैली भी भिन्न-भिन्न होगी। भिन्न-भिन्न कार्य के होने से इनमे परस्पर विरोध भी होगा, जिसका परिणाम यह होना चाहिये कि विरोधी कार्य होने से शरीर का एक भाग एक प्रकार का कार्य करे और दूसरा भाग बिल्कुल उसके विपरीत विरोधी कार्य करे या इनमे परस्पर टक्कर लग जाने से ये सूक्ष्म पदार्थ कार्य शक्ति विहीन हो जावे। परन्तु ऐसा देखने व अनुभव मे नही आता। मनुष्य बराबर सोचता विचारता रहता है। कभी भी उसकी विचार-शक्ति नष्ट नही होती। इसलिए यही मानना पडेगा कि जानने विचारने की शक्ति वाला एक सरल पदार्थ है जिसमे पृथक्-पृथक् विरोधी अश नही है और जिसका कार्य सरल व लगातार होता रहता है। इससे इसी परिणाम पर पहुँचा जाता है कि मनुष्य के भीतर जानने, अनुभव करने वाला मस्तिष्क से भिन्न अखड मूल तत्व है।

(४) स्मरण रखने वाला पदार्थ पुद्गल[1] से पृथक है

मनुष्य व भौतिक पदार्थ के बने हुए एजिन मे एक और भी अन्तर है। मनुष्य पहिली बातों को स्मरण रख सकता है। पहिले देखे हुए पदार्थ पर दृष्टि पडते ही कह देता है कि यह वही पदार्थ है कि जिसको मैंने पहिले अमुक समय पर देखा था। इस स्मरण शक्ति का एजिन मे सर्वथा अभाव है। स्मरण शक्ति बतलाती है कि जिसने पहिले वस्तु को देखा था, वही देखने वाला आज भी विद्यमान है।

यह स्मरण शक्ति कहा से आ गई ? यदि यह कहा जावे कि किसी घटना या वस्तु के सम्मुख उपस्थित होने पर मस्तिष्क या शरीर के किसी विशेष भाग से सूक्ष्म अश निकलते रहते है जिनका कार्य स्मरण रखना है तो ऐसी घटना व वस्तुयें हर समय होती रहती हैं, इसलिए यह भी मानना होगा कि उपरोक्त प्रकार के सूक्ष्म अश भी लगातार निकलते रहते है। इन सूक्ष्म अशो को या तो इकट्ठा होते रहना मानना होगा या यह मानना होगा कि जब दूसरे क्षण मे नवीन अश आ जाते है तो पहिले अश नष्ट हो जाते है। यदि पहिले अशो को नष्ट होना माना जावे तो स्मरण हो नही सकता। जिन सूक्ष्म अशो ने पहिले वस्तु को देखा था, जब वे ही नही तो पहचानेगा या स्मरण रखेगा कौन ?

यदि मनुष्य के अन्दर भिन्न-भिन्न समय मे उत्पन्न हुए सूक्ष्म अशो का एकत्रित होना माना जावे तो यह असम्भव है कि एक क्षण के अनुभव को अन्य क्षणो के अनुभव से मिलाकर कोई परिणाम निकाला जा सके क्योकि इन पृथक्-पृथक् अशो के अनुभव को समन्वय करने वाला कोई

---

[1] जैनदर्शन ने भौतिक पदार्थ के लिये पुद्गल शब्द का प्रयोग किया है।

विशेष अश नही है, इसलिये यही मानना पड़ेगा कि स्मरण रखने वाला पुद्गल से भिन्न, कोई विशेष अखंड मूल तत्व है जो पहिले जानी हुई बातो को स्मरण रख सकता है।

(५) मनुष्य में संकल्प शक्ति है

मनुष्य और एजिन की क्रियाओ को तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर ज्ञात होता है कि मनुष्य मे सकल्प-शक्ति (will power) है कि मै आज अमुक कार्य करूगा। यह संकल्प-शक्ति मनुष्य मे राजा के सदृश है। राजा की आज्ञा पाते ही जैसे मंत्री आदि आधीन पुरुष कार्य करने लगते है, ठीक उसी प्रकार सकल्प होते ही मनुष्य के हाथ-पैर आदि कर्मेन्द्रिया उसके सकल्प के अनुसार काम करने लगती है। किसी मनुष्य ने सकल्प किया कि मुझको वायुसेवन करने के लिये अभी पुष्प-वाटिका मे जाना है। सकल्प के होते ही उसका शरीर जो पहिले लेटी हुई अवस्था मे चेष्टा-रहित था, खडा हो जाता है और पुष्प-वाटिका की ओर जाता हुआ दृष्टिगोचर होता है। भौतिक एजिन मे इस सकल्प-शक्ति का सर्वथा अभाव है। एंजिन मे यह कभी नही पाया जाता कि वह सकल्प करे कि मै आज चलूगा, विश्राम करूगा आदि। एजिन के सदृश किसी भी भौतिक पदार्थ मे यह सकल्प-शक्ति नही पाई जाती। इस सकल्प-शक्ति पर प्रकृति का कोई भी नियम लागू नही होता। यह सकल्प-शक्ति इस बात की द्योतक है कि इसका धारक कोई सूक्ष्म मूलतत्व मनुष्य के भीतर अवश्य है, जिसका स्वरूप भौतिक पदार्थ से सर्वथा भिन्न है।

(६) मनुष्य में काम क्रोध आदि भावनायें हैं

मनुष्य की चेष्टा व एजिन की क्रियाओ को देखने से ज्ञात होता है कि एक और विषय मे भी इन दोनों मे बडी विभिन्नता है। मनुष्य कभी क्रोध, कभी गर्व के आवेश मे दिखलाई देता है, कभी लोभ के वशीभूत

हुआ अनेक प्रकार के कार्य एवं सामग्रिया एकत्रित करता हुआ दृष्टिगोचर होता है। इस प्रकार मनुष्य मे अनेक प्रकार की भावनाए पाई जाती है। एजिन में इस प्रकार की भावनाओं के अस्तित्व का सर्वथा अभाव है। मनुष्य की इन अनेक प्रकार की भावनाओं पर प्रकृति का कोई भी नियम लागू नही होता। यदि ये काम क्रोध आदि भावनाये मनुष्य के भौतिक मस्तिष्क आदि किसी अग से उत्पन्न होती तो इन भावनाओ पर भौतिक पदार्थ सम्बन्धी नियम लागू होते। यह नही होता कि मनुष्य मे विद्यमान भावनाये प्राकृतिक नियमो का सर्वथा उल्लघन करती। प्राकृतिक नियमो से सर्वथा स्वतन्त्र, अनेक प्रकार की रागद्वेष आदि भावनाओं के अस्तित्व से प्रमाणित होता है कि इन भावनाओं का धारक पदार्थ मनुष्य मे अवश्य है, जो पुद्गल से सर्वथा भिन्न है।

(७) ज्ञान, संकल्प-शक्ति, रागद्वेषादि भावनायें आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करती हैं

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि मनुष्य मे शब्द सुनने, पदार्थ देखने, हित अहित पहिचानने, पहिली बातो के स्मरण रखने के गुण, सकल्प-शक्ति एव रागद्वेष आदि भावनाये भौतिक पदार्थ से उत्पन्न नही होती। गुण (attributes) कभी भी बिना आधार किसी वस्तु के स्वतंत्र रूप से नही पाये जाते है, सदैव किसी न किसी वस्तु मे रहते है। ऐसा दिखलाई नही देता कि गुण विद्यमान हों किन्तु उनकी धारक वस्तु विद्यमान न हो। उष्णता एक गुण है जो अग्नि आदि पदार्थों मे पाया जाता है। उष्णता गुण, बिना किसी वस्तु के आधार, स्वतत्र रूपसे, कभी अनुभव नही किया जाता। उष्णता गुण सदैव किसी न किसी वस्तु के आधार पर रहता है। यही बात अन्य गुणो के सम्बन्ध मे है। लाल रग को ही लीजिये। वह किसी न किसी वस्तु का रग होता है। यह नही हो सकता कि बिना आधार किसी वस्तु के, रक्त वर्ण स्वतत्र रूप से विद्यमान

हो। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि प्रत्येक गुण के लिये आवश्यक है कि उस गुण का धारण करने वाला कोई गुणी पदार्थ हो। यह तो हो सकता है कि गुणो की धारक वस्तु नेत्र आदि इन्द्रियों के गोचर न हो, अदृश्य हो।

मनुष्य में शब्द सुनने, पदार्थ देखने, पहिली बातो के स्मरण रखने, सकल्प करने एवं रागद्वेष आदि भावनाओ की जो विशषताये विद्यमान है ये समस्त गुण है। कोई भी गुण किसी गुणी पदार्थ के आधार बिना विद्यमान नही रह सकता है, इसलिये उपरोक्त गुणों के धारण करने वाले एक या अधिक गुणी पदार्थ अवश्य होने चाहिये। अब यह जानना शेष रह जाता है कि उपरोक्त समस्त गुणों का धारण करने वाला एक ही पदार्थ है या एक से अधिक।

प्रत्येक वस्तु मे अनेक गुण होते है जो उसमे एक ही साथ एक ही समय मे पाये जाते है। दृष्टान्त के तौर पर गुलाब के फूल को लीजिये। यह स्पर्श करने में कोमल, देखने मे गुलाबी वर्ण का प्रतीत होता है। उसमे सुगन्ध व एक प्रकार का विशेष स्वादु होता है। शीतलता, स्वास्थ्य-वर्धकता, हृदय-ग्राह्यता, रेचकता आदि अनेक गुण इस पुष्प में एक ही साथ एक ही समय मे पाये जाते हैं। इन समस्त गुणो के एक ही पदार्थ मे एक ही साथ रहने मे कोई आपत्ति नही आती। केवल वे गुण—जो परस्पर विरोधी होते है—किसी वस्तु में एक साथ एक समय मे नहीं रह सकते है। गुलाब के पुष्प मे सुगन्ध के साथ दुर्गन्ध, कोमलता के साथ रूक्षता, गुलाबी वर्ण के साथ हरित पीत आदि वर्ण, उसके विशेष स्वादु के साथ अन्य स्वादु, स्वास्थ्य-वर्धकता के साथ हानि-प्रदायित्व, हृदय-ग्राह्यता के साथ घृणास्पदता, रेचकता के साथ मल-निरोधत्व आदि विरोधी गुण, एक साथ एक समय मे विद्यमान नही रह सकते। अग्नि का स्वभाव उष्णता है, उसमे शीतलता का गुण वास नही कर सकता। यदि अग्नि मे शीतलता प्रवेश कर जावे तो वह अग्नि, अग्नि ही नही रहेगी; उष्णता के नष्ट होने के साथ-साथ अग्नि का भी नाश हो जावेगा।

विचारने से ज्ञात होता है कि शब्द सुनने, पदार्थ देखने, हित अहित पहिचानने, पूर्व काल की बातों को स्मरण रखने मे ज्ञान गुण से ही काम लिया जाता है। किसी वस्तु को नेत्र, कर्ण आदि इन्द्रियों के द्वारा पहिले जाना जाता है फिर उस वस्तु पर विचार किया जाता है कि यह लाभ-दायक है या हानिकारक। फिर उस वस्तु के स्मरण रखने की आवश्यकता होती है। उपरोक्त मानसिक चेष्टाओ मे ज्ञान गुण ही प्रयोग में लाया जाता है। इन ज्ञान चेष्टाओं में इन्द्रियो के द्वारा किसी वस्तु का जानना, ज्ञान की प्रथम अवस्था है, उस वस्तु के हित अहित पर विचारना ज्ञान की द्वितीय अवस्था है; विचारने के पश्चात् स्मृति मे रखना उसी ज्ञान की तृतीय अवस्था है। इस प्रकार शब्द सुनने, पदार्थ देखने, हित अहित पहिचानने, पहिली बातो के स्मरण रखने आदि का—ज्ञान गुण की भिन्न-भिन्न अवस्थाये होने के कारण—ज्ञान गुण मे ही समावेश हो जाता है।

ज्ञान गुण, सकल्प-शक्ति एव रागद्वेषादि भावनाओ मे परस्पर विरोध विचार करने से ज्ञात नही होता। ऐसा प्रतीत नही होता कि यदि किसी पदार्थ का स्वभाव ज्ञानमयी है तो उस स्वभाव के साथ-साथ अन्य दोनों गुण—सकल्प-शक्ति व रागद्वेषादि भावना—विद्यमान न रह सकते हो, वरन् निम्नलिखित बातो से प्रकट होता है कि इन तीनो गुणो का आधार एक ही वस्तु है।

मानव समाज का अन्वीक्षण करने से ज्ञात होता है कि इस ससार मे ऐसा कोई व्यक्ति दृष्टिगोचर नही होता कि जिसमे ये तीनो गुण एक साथ न पाये जाते हो। ऐसा कोई व्यक्ति दिखलाई नही देता है कि जिसमे एक या दो गुण हो और शेष गुण न हो। इन तीनो गुणो के एक ही साथ पाये जाने से अनुमान होता है कि इन तीनो गुणो का आधार एक ही पदार्थ है। इसके अतिरिक्त यह युक्तिसगत भी है कि जब इन तीन गुणो के आधार के सम्बन्ध मे, एक ही पदार्थ के मान लेने से काम

चल जाता है तो एक से अधिक पदार्थ मानने की आवश्यकता ही क्या है ?

इन गुणो पर गहन दृष्टि से विचारने से ज्ञात होता है कि इन तीनो गुणो के अन्तर्गत, **"अनुभव गुण"** (Realization) महसूस करना, किसी न किसी दशा मे पाया जाता है। मनुष्य जब किसी वस्तु का ज्ञान प्राप्त करता है तो उसका चित्र उसके मस्तिष्क के अन्दर खिच जाता है। उस समय उस वस्तु का अनुभव उसको होता है। इसी भांति मनुष्य जब किसी कार्य करने का सकल्प करता है और उसका समस्त शरीर उस संकल्प के अनुसार कार्य करने में प्रवृत्त होता है, उस (सकल्प) समय उस मनुष्य को अपनी शक्ति का अनुभव होता है। इसी प्रकार मनुष्य जब क्रोध, अभिमान आदि किसी भावना के वशीभूत होता है उस समय उसको उस भावना के अन्तर्गत सुख या दुख का अनुभव होता है। इस प्रकार उपरोक्त तीनो गुणो के अन्तर्गत 'अनुभूति' गुण किसी न किसी दशा व अंश मे अवश्य पाया जाता है। इससे यही प्रमाणित होता है कि मनुष्य मे भौतिक शरीर के अतिरिक्त केवल एक ही पदार्थ है जिसके ज्ञान, सकल्प-शक्ति एव रागद्वेष आदि भावना चिन्ह है। इस पदार्थ (द्रव्य) को आत्मा या जीव कह सकते है।[1]

---

[1] दार्शनिकों ने ज्ञानधारी पदार्थ को आत्मा व जीव कहा है, इसलिये यही नाम रखने उचित प्रतीत होते हैं।

३—विज्ञान आत्मा के सम्बन्ध में क्या कहता है ?

(१) विज्ञान का प्रारंभिक काल

पाश्चात्य वैज्ञानिको मे आत्मा के अस्तित्व के सम्बन्ध मे बड़ा मत-भेद है। प्रारम्भिक काल में विज्ञान भौतिक पदार्थो के गुण, स्वभाव आदि बातो के जानने तथा शब्द, प्रकाश, विद्युत आदि प्राकृतिक शक्तियो के अनुसन्धान मे लगा रहा। मनुष्य के जीवन एव आत्म स्वभाव, ज्ञान, रागद्वेष आदि भावना आदि प्रश्नो की ओर उसका ध्यान न था। इन प्रश्नो को न केवल उपेक्षा की दृष्टि से प्रत्युत घृणा व विरोध की दृष्टि से देखता था।

विज्ञान की दृष्टि मे उस समय आत्मा सम्बन्धी प्रश्न बेकार, समय को नष्ट करने वाले एव मानव समाज को अन्धकार मे डालने वाले थे। उसका विश्वास था कि आत्मा सम्बन्धी प्रश्नो की व्याख्या करने वाले धर्मों से ससार का बडा अहित हुआ है। इन धर्मों ही के कारण मानव समाज मे रुधिर की नदिया बही है। इन धर्मों ने ही उसको प्राचीन काल में आगे बढने से रोका था। ईसाई धर्मावलम्बियों ने तो विज्ञान पर उसके बाल्य काल मे घोर अत्याचार किये थे। गेलिल्यो (Galeleo) आदि आविष्कारकों को जेल, मृत्युदड आदि अनेक यातनाये दी है तथा उसके समूलोन्मूलन के सब ही उपाय प्रयोग मे लाये गये है। ऐसे सकटाकीर्ण मार्ग तथा विकट परिस्थितियों मे से होकर विज्ञान को आगे बढ़ना पडा है। विज्ञान ने आधुनिक मानव समाज मे वर्तमान उच्च पद अपने पुजारी वैज्ञानिको के असीम उत्साह व त्याग के कारण ही प्राप्त किया है। ऐसी दशा मे विज्ञान का धर्म के प्रति उपेक्षा व विरोध का होना स्वभाविक ही

था। ज्यो-ज्यों समय व्यतीत होता गया, विज्ञान का विरोध धर्म के प्रति धीरे-धीरे कम होता गया; अन्त में विरोध उपेक्षा के भाव मे परिवर्त्तित हो गया। कुछ समय से यह उपेक्षा का भाव भी कम होने लगा है और वैज्ञानिकों का ध्यान जीवन सम्बन्धी प्रश्नो की ओर जाने लगा है।

गत ७० वर्षों मे अनेक वैज्ञानिको ने विशेषकर मनोवैज्ञानिको ने (Psychologists) ने इस प्रश्न पर विचार किया है। प्राचीन वैज्ञानिकों मे से अधिकतर ज्ञान को भौतिक मस्तिष्क से उत्पन्न हुआ मानते थे। उनके विचार में आत्मा पुद्गल से पृथक कोई वस्तु न थी। ज्ञान, स्मृति, रागद्वेष आदि अनेक प्रकार की मानसिक चेष्टाओ का सतोषप्रद उत्तर उनकी उपरोक्त धारणा से नही मिलता था, इसलिये अर्वाचीन समय मे कितने ही मनोवैज्ञानिक आत्मा के अस्तित्व को भौतिक पदार्थ से भिन्न मानने लगे है। कुछ वैज्ञानिको के मत यहा उद्धृत किये जाते है :—

(२) वैज्ञानिकों के मत

(क) श्री वर्गसन का मत

प्रसिद्ध वैज्ञानिक श्री वर्गसन लिखते है[1] :—

"Two points are equally striking in an organ like the eye, the complexity of its structure and the simplicity of its function. The eye is composed of distinct parts such as the Sclerotic, the Cornea, the Retina, the Crystalline lens etc. In each of these

---

[1] Creative Evolution (उत्पादक विकास) नामी पुस्तक पृ० ९३ पर लिखते है।

parts, the detail is infinite....The mechanism of the eye is, in short, composed of an infinity of mechanisms, all of extreme complixity. Yet Vision is one simple fact. As soon as the eye opens the visual act is affected. Thus because the act is simple, the slightest negligence on the part of nature in the building of the infinitely complex machine would have made vision impossible. This contrast between the complexity of the organ and the unity of the function is, what gives us pause. A mechanistic theory is one which means to show us, the gradual building up of the machine under the influence of the external cirumstances.....supposing it avails at all to explain the details of the parts, it throws no light on their corelations.....This contrast between the infinite complexity of the organ and the extreme simplicity of the function is what should open our eyes

जिसका अनुवाद हिन्दी भाषा में निम्न प्रकार होता है :—

"नेत्र सदृश इन्द्रिय में दो विशेषतायें प्रतीत होती हैं, उसके बनावट की पेचीदगी एवं उसके कार्य की सरलता। नेत्र पुतली, तिल, काला सफेद प्रदेश, कोया आदि भागो का बना हुआ है। प्रत्येक भाग का विवरण असीम है। ..नेत्र का यंत्र, छोटे-छोटे असख्यात पेचीदे यत्रों का बना हुआ है। तिसपर भी दर्शन कार्य बडा सरल है। जैसे ही नेत्र खुलता है, वाह्य पदार्थों का दर्शन कार्य आरम्भ हो जाता है। यदि प्रकृति नेत्र से पेचीदा यत्र की बनावट में तनिक सी

भी असावधानी करती तो दर्शन कार्य असम्भव हो जाता। इस अग के बनावट की पेचीदगी तथा इनके कार्य की ऐक्यता विचारने के लिये बाध्य करती है। यांत्रिक सिद्धान्त (Mechanic theory) बतलाता है कि यंत्र, जैसे कि नेत्र, वाह्य परिस्थिति से प्रभावित होकर धीरे-धीरे कैसे बनता है....। यदि इस सिद्धान्त के द्वारा इस यत्र के भागों का विवरण भी ज्ञात हो जावे, परन्तु इस सिद्धान्त से यह ज्ञात नही होता है कि दर्शन कार्य का सम्बन्ध नेत्र-यत्र से क्या है।. ..नेत्र के बनावट की असीम पेचीदगी एवं उसके दर्शन कार्य की सरलता की तुलना हमको विस्मय में डाल देती है!

(ख) पादरी बटलर व आचार्य टेंडल का मत

विख्यात बेलफास्ट के व्याख्यान मे जो तर्क पादरी बटलर (Bishop Butler) ने इस सम्बन्ध मे किया है उसका खडन आज तक नही किया जा सका। इस तर्क के सम्बन्ध मे स्वर्गीय वैज्ञानिक आचार्य टेंडल (Tyndall) ने कहा था कि यह तर्क अखडनीय है। इस तर्क के शब्द निम्न प्रकार है[1] :—

"Take your dead hydrogen atoms, your dead oxygen atoms, your dead carbon atoms, your dead nitrogen atoms, your dead phosphorous atoms and all other atoms dead as grains of shot, of which the brain is formed. Imagine them separate and senseless, observe them running together and forming all imaginable combinations. This, as a

---

[1] आचार्य टेंडल (Tyndall) रचित Fragments of Science, Vol. II.

purely mechanical process, is seeable by the mind. But can you see or dream or in any way imagine, how out of that mechanical act and from these individually dead atoms, sensation, thought and emotion are to arise? Are you likely to create Homer out of the rattling of dice or Differential calculus out of the clash of Billiard ball?....You can not satisfy the human understanding in its demand for logical continuity between molecular process and the phenomena of consciousness."

जिसका हिन्दी अनुवाद निम्न लिखित होता है :—

आप हाइडरोजन तत्व के मृत परमाणु, प्राणवायु (आक्सीजन) तत्व के मृत परमाणु, कारबन तत्व के मृत परमाणु, नाइटरोजन तत्व के मृत परमाणु, फासफोरस तत्व के मृत परमाणु तथा बारूद की भांति उन समस्त तत्वो के मृत परमाणु जिनसे मस्तिष्क बना है ले लीजिये। विचारिये कि ये परमाणु पृथक-पृथक एव ज्ञानशून्य है. फिर विचारियें कि ये परमाणु साथ-साथ दौड रहे है और परस्पर मिश्रित होकर जितने प्रकार के भी स्कध हो सकते है, बना रहे है। इस शुद्ध यात्रिक क्रिया का चित्र आप अपने मन मे खीच सकते है। क्या यह आपकी दृष्टि स्वप्न या विचार मे आ सकता है कि इस यात्रिक क्रिया या इन मृत परमाणुओं से बोध, विचार एव भावनाये उत्पन्न हो सकती है! क्या फासो के खट-खटाने से होमर कवि[1] या विलयर्ड खेल की गेद के खनखनाने से गणित

---

[1]होमर यूनान देश का अत्यन्त विख्यात प्राचीन कवि है जिसकी इलियड एंड ओडसी (Illiad and Oddessy) नाम की कविता पुस्तकें अत्यन्त प्रसिद्ध है।

का डिफरन्शियल केलकुलस निकल सकता है ? . . . . आप मनुष्य की जिज्ञासा का—परमाणुओ के परस्पर सम्मिश्रण की यांत्रिक क्रिया से ज्ञान की उत्पत्ति कैसे हो गई,—सतोषप्रद उत्तर नही दे सकते।

बटलर महोदय की इस प्रबल युक्ति से बचने के लिये आचार्य टेंडल ने पुद्गल शब्द की व्याख्या ही बदल दी । आचार्य टेंडल ने कहा है कि यदि पुद्गल शब्द का वही अर्थ ले जो विज्ञान की पुस्तको मे दिया हुआ है तो यह विचार में नही आ सकता कि ज्ञान मय जीवन भौतिक पदार्थ से कैसे उत्पन्न हो गया। पादरी बटलर के युक्तिसगत तर्क से पुराना विचार—ज्ञान व आत्मा भौतिक पदार्थ से ही उत्पन्न होता है—खडित हो जाता है। आचार्य महोदय कहते है कि जिन्होने 'पुद्गल' शब्द की व्याख्या की है उन्होने पुद्गल को सब दृष्टिकोणो से नही देखा था; वे गणितज्ञ या वैज्ञानिक थे; उनका विज्ञान यात्रिक विधान तक सीमित था। वे जीवन व मनोविज्ञान के ज्ञाता न थे, उन्होने जीवन विज्ञान का अध्ययन नही किया था। इसलिये आचार्य महोदय पुद्गल की व्याख्या मे ज्ञान व भावना को भी सम्मिलित करते है क्योकि आत्मा शरीर से पृथक् नही पाया जाता।

आचार्य महोदय का पुद्गल की व्याख्या मे ज्ञान व भावना युक्त-आत्मा का सम्मिलित कर लेना उचित नही है। पुद्गल चेतनता रहित, ज्ञानशून्य जड पदार्थ है और आत्मा चेतनायुक्त ज्ञानमयी द्रव्य है। इन दोनों पदार्थों के गुणो मे परस्पर घोर विरोध, पूर्ण वैपरीत्य है। यह असम्भव है कि एक ही पदार्थ का स्वभाव जड़ व अचेतन हो और साथ-साथ उसका स्वभाव ज्ञानमयी व चेतन भी हो। यह पहिले ही निर्णय किया जा चुका है कि किसी वस्तु मे दो परस्पर विरोधी गुण एक साथ एक ही समय मे विद्यमान नही रह सकते है। इसलिये अचेतन जड गुण व चेतन ज्ञान गुण—इन दो प्रतिपक्षी गुणों—के धारण करने वाले दो भिन्न-भिन्न पदार्थ मानने होगे जिनको कि पुद्गल व आत्मा कहते है।

मनुष्य—भौतिक शरीर व ज्ञानमयी आत्मा—दो भिन्न भिन्न पदार्थों का संयुक्त प्राणी है।

(ग) श्री मेकडूगल का मत

विख्यात मनोवैज्ञानिक श्री मेकडूगल[1] लिखते है कि :—

"We are compelled to admit....that the so-called Psychical elements are not independent entities but are partial effections of a single substance or being; and since....this is not any part of brain, is not a material substance, but differs from all material substances in that, while it is unitary, it is yet present, can act or be acted upon, at many points in space simultaneously (namely the various parts of the brain in which Psycho-physical processes are at any moment occuring). We must regard it as an immaterial substance or being. And this being thus necessarily postulated as the ground of the unity of individual consciousness, we may call it the *Soul* of the individual"

जिसका हिन्दी अनुवाद निम्नलिखित है :—

हम इस बात के मानने के लिये बाध्य है.. कि कथित मानसिक चेष्टाओ का कोई स्वतत्र अस्तित्व नही है वरन् ये एक ही पदार्थ या मूल

---

[1] देखो उनकी पुस्तक (Physiological Psychology) फिजियालाजिकल साइकोलाजी अर्थात् शारीरिक मनोविज्ञान।

तत्व की अवस्थाये विशेष है। यह मूल तत्व मस्तिष्क का अश नही है इसलिय यह भौतिक पदार्थ नही हो सकता। भौतिक पदार्थों से इस बात मे विभिन्नता है कि यह एक अखड मूल तत्व है जो आकाश के कितने ही भागो मे (मस्तिष्क के भिन्न-भिन्न भागो मे जहा कि मानसिक भौतिक चेष्टाये होती रहती है) एक ही साथ कार्य कर सकता है या इस पर कार्य किया जा सकता है। हमको यह पदार्थ पुद्गल से पृथक मानना होगा। क्योकि यही पदार्थ मनुष्य के सम्पूर्ण ज्ञान का आधार है इसलिये इस पदार्थ को मनुष्य की आत्मा कह सकते है।

४—मनोविज्ञान अनुसंधान समिति के अनुभव

पाश्चात्य देशो मे स्थापित 'मनोविज्ञान अनुसन्धान समिति' (Psychical Research Society) के अनुसन्धानो से निश्चय हो गया है कि मनुष्य मे आत्मा है और यह आत्मा मृत्यु के पश्चात् भी जीवित रहता है। मनोवैज्ञानिक श्री एफ० डब्लू० एच०, मेयरस (Mr. F. W. H. Meyers) ने—जो उपरोक्त समिति के संस्थापको मे से है और जिनके प्रयत्न व अनुसन्धान से मनोविज्ञान सम्बन्धी विषय को आधुनिक वैज्ञानिक युग मे उचित स्थान मिला है—अपनी पुस्तक 'मानुषिक व्यक्तित्व एव मृत्यु के पश्चात उसका अस्तित्व' (The Human Personality and its Survival of bodily death) मे बहुत से अनुसन्धान दिये है जिनके अध्ययन से आत्मा के अस्तित्व व उसकी मानसिक शक्तियो के सम्बन्ध मे बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त हो जाता है। इन अनुसन्धानों में से कुछ अनुसन्धान यहा उद्धृत किये जाते है।

(१) व्यक्तित्व में परिवर्तन

एक ही व्यक्ति मे भिन्न-भिन्न समयो पर ऐसी भिन्न-भिन्न अवस्थाये दिखलाई देती है कि जिससे उसमे भिन्न-भिन्न व्यक्तित्व प्रतीत होते है जब कि उस व्यक्ति के शरीर की बनावट मे कोई विशेष अन्तर दिखलाई नही देता है।

(क) स्मृति का अकस्मात् नष्ट हो जाना

पहिली दशा स्मृति के अकस्मात नष्ट हो जाने की है। ऐसे कई उदाहरण उपस्थित है कि जिनमे मनुष्य की स्मृति कुछ समय के लिये,

बिल्कुल नष्ट हो गई थी। स्मृति के नष्ट हो जाने से वह मनुष्य पृथक् व्यक्तित्व की भांति कार्य करने लगा था, जब पहिली स्मृति उस मनुष्य मे आई तो उसकी स्थिति पूर्ववत हो गई। परन्तु उस मनुष्य को अपनी द्वितीय अवस्था का—जब उसकी स्मृति नष्ट हो गई थी—कुछ भी ज्ञान नही रहा। मेयरस् ने अपनी पुस्तक[1] मे एक ऐसा ही उदाहरण दिया है जो उद्धृत किया जाता है :—

अमेरिका के अन्तर्गत वरजिनिया प्रदेश के श्री ड्यूरी (Mr. Drewry) जून १८९६ के मेडिको-लीगल पत्रिका (Medico-Legal Journal) में निम्नलिखित घटना का वर्णन करते है :— श्री के० एक व्यापारी था जिसकी आयु ५० वर्ष की थी, जिसका शरीर हृष्ट-पुष्ट सुगठित था, जो शान्ति-प्रिय, सच्चरित्र, परिश्रमी, प्रसन्न चित्त और अपने परिवार से सन्तुष्ट था। एक दिन दूसरे नगर को अपने व्यापार के लिये सामान मोल लेने के लिये गया। वहा दो दिन तक ठहरा; कितना ही व्यापार किया, मित्रो से मिला और फिर वापिस आने के लिये जहाज पर चढ़ गया। जहाज पर जब टिकट इकट्ठा करने का समय आया तो वह वहा पर नही पाया गया, ढूढ़ने पर उसका कोई पता नही चला। छ मास पश्चात् अकस्मात् वह घर आया। उसका वजन २५० पौंड से घट कर १५० पौंड रह गया था। वह बहुत दुर्बल और कुछ विक्षिप्त सा था। पहिले के ही वस्त्र पहिने हुए था। जहाज के कमरे की ताली उसकी जेब मे थी। जब उसको होश आया तो उसने अपने आपको एक सडक पर फलो की गाडी हाकते हुए पाया। उसको तनिक भी स्मरण न था कि वह वहां कैसे, कब और कहा से आया और वह क्या कर रहा है। इन सब प्रश्नो का समझना उसके लिये कठिन समस्या हो गई थी।

---

[1] The Human Personality and its Survival of bodily death. पैरा २२८

वहां से चलकर वह अपने घर आ गया। उसको जहाज के कमरे मे प्रवेश करने का स्मरण था परन्तु उसके पश्चात् के ६ मास की तनिक भी स्मृति न थी कि वह कहां-कहा गया और कहा-कहा रहा।

(ख) एक ही समय में भिन्न २ व्यक्तित्व

कुछ ऐसे व्यक्ति देखे गये है कि जिनमे दो या तीन व्यक्तित्व पाये गये है। निम्नलिखित वृत्तान्त १८९५ की अमरीकन मेडीकल एसोसियेशन की पत्रिका (American Medical Association Journal) मे दिया है[1].—

एल्मा ज़ेड (Alma Z) एक अत्यन्त स्वस्थ, बुद्धिमती बालिका थी। अति परिश्रम के कारण उसका स्वास्थ्य बिगड गया। दो वर्ष तक रुग्ण रहने पर उसमे अकस्मात् दूसरे व्यक्तित्व का प्रादुर्भाव हुआ। उसने अमेरिका के आदि निवासियो के बालिकाओ की भाति एक अनोखी भाषा मे अपना नाम 'टुआई' बतलाया और प्रगट किया कि वह पहिले व्यक्तित्व की सहायता के लिये आई है। टुआई फुर्तीली, प्रसन्न चित्त, अनोखी, हास्ययुक्त बात करने वाली लडकी थी। जब एल्मा ज़ेड के शरीर पर टुआई का प्रभुत्व होता था तो वह भलीभांति भोजन करती थी और कहती थी कि पहिले व्यक्तित्व (एल्मा ज़ेड) के लाभ के लिये वह भोजन कर रही है। टुआई के रहने की दशा मे शारीरिक अवस्था मे कितनी ही उन्नति प्रतीत होती थी। एल्मा ज़ेड (पहिले व्यक्तित्व) को टुआई के रहने के समय की कोई भी बात ज्ञात नही होती थी। इस प्रकार एक ही शरीर मे दो भिन्न-भिन्न व्यक्तित्व रहते थे[2]। भौतिक मस्तिष्क से

---

[1] उपरोक्त The Human Personality and its Survival of bodily death पैरा २२५

[2] लेखक ने स्वयं एक शरीर में दो भिन्न-भिन्न व्यक्तित्व को देखा है।

एक ही परिस्थिति मे दो भिन्न-भिन्न व्यक्ति कैसे उत्पन्न हो सकते हैं ?

(२) अद्भुत ज्ञान चमत्कार

कितने ही मनुष्यो के ऐसे उदाहरण है जो विस्मय मे डालने वाली मानसिक शक्तियो का परिचय देते है। इन उदाहरणो मे अधिकतर ऐसे बालको के है, जो गणित सम्बन्धी कठिन प्रश्नो का उत्तर एकदम दे देते है, जिनका समाधान मनुष्य कागज पेंसिल द्वारा कितने ही समय मे कर पाते है। मेयरस् महोदय ने अपनी उपरोक्त पुस्तक मे ऐसे १३ उदा-हरण दिये हैं जिनमे प्रसिद्ध गणितज्ञ गास (Gauss) व एम्पेयर (Ampere) के नाम भी है। उनमे से एक उदाहरण उद्धृत किया जाता है।

(क) बुद्धि चमत्कार

स्काटलैंड मे एडिनबरा नगर के इजिनियर श्री ब्लीथ (Blyth) ने, जब कि वह ६ वर्ष का बालक था, अपने पिता से अपने जन्म का समय

एक महिला के शरीर में दूसरी मृत महिला का व्यक्तित्व प्रवेश करके उस पर अपना प्रभुत्व जमा लेता था, दूसरी महिला के व्यक्तित्व के प्रभुत्व होने पर उसके बर्ताव, रहने व बोलने के ढंग, स्वभाव में बड़ा अन्तर हो जाता था। दूसरी महिला का व्यक्तित्व पहिली महिला के शरीर में कभी कई-कई दिन तक रहता था, भोजन आदि कार्य भी करता था, जब दूसरी महिला का व्यक्तित्व शरीर में से निकल जाता था तब पहिली महिला का व्यक्तित्व प्रगट हो जाता था। पहिली महिला को उस समय की—जब कि उसके शरीर में दूसरी महिला के व्यक्तित्व का प्रभुत्व होता था—किसी बात या कार्य का कुछ भी ज्ञान न होता था।

पूछा। पिता के दिन व घटा बतलाने पर बालक ने एकदम कहा 'तब पिता जी मेरी आयु इतने सिकंड की है'; इस पर सिकडो की गणना की गई और बालक के उत्तर मे १७२८०० सिकडो का अन्तर पाया गया। बालक ने कहा कि आप गणना मे दो लौद (leap) के वर्षों को भूल गये है, लौंद के वर्षों को गणना मे सम्मिलित कर लेने पर बालक का उत्तर ठीक निकला।[1] यह आश्चर्यकारी ज्ञान, आयु के अधिक होने पर प्रायः इन अद्भुत व्यक्तियो मे से लुप्त हो जाता है। ये अद्भुत व्यक्ति अपनी गणना की उस शैली के बतलाने मे असमर्थ रहे, जिससे ये अपने मन मे इन प्रश्नो का हल कर लेते थे।

ऐसी अद्भुत ज्ञानशक्ति कितने ही बालक व मनुष्यो के भीतर विभिन्न कलाओ मे भारतवर्ष मे भी देखी जाती है।[2] श्रीमद् राजचन्द्र शतावधानी थे। जो भी वाक्य, चाहे कितने ही लम्बे व किसी अज्ञात भाषा मे ही क्यो न हो, जब उनके सामने कहे जाते थे, वे उनको उसी क्रम से दोहरा देते थे। दो उदाहरण सगीतकला के भी वर्तमान काल मे देखे गये है। मास्टर मनहर बरवे व मास्टर मदन[3] दो बालको ने—जब कि वे ५ वर्ष के ही थे और उनके शब्दो का उच्चारण कठिनता से ही स्पष्ट हो पाया था—

---

[1] ज्योतिष शास्त्र के आचार्य स्ट्रेफोर्ड (Strafford) १० वर्ष की आयु में ३६ अंकों की गुणा १ मिनट में कर लेते थे। इसी प्रकार पादरी ह्वेटले (Bishop Whatley) ६ वर्ष से ९ वर्ष की आयु के भीतर बड़े-बड़े गणित के प्रश्नों को हल कर लेते थे।

[2] महात्मा गांधी ने स्वय १८९१ में श्रीमद राजचन्द्र की परीक्षा की थी जो उन्होंने श्रीमद् राजचन्द्र पुस्तक की प्रस्तावना में लिखी है।

[3] लेखक ने मास्टर मदन का मधुर गान सन् १९१२ में प्रयाग में और मास्टर बरवे का सुरीला गान १९२१ में मुरादाबाद में सुना था। गाना सुनने के समय इनमें से प्रत्येक की आयु ६ वर्ष की थी।

गाना प्रारम्भ किया। संगीतकला में इनकी योग्यता असाधारण थी। अनेक राग रागिनी से युक्त नाना प्रकार के वाद्यो के साथ, इनका सुरीला मधुर गान, श्रोताओं के हृदय को मोहित व गानकला-विशारदों के गर्व को चूर करता था। यह ज्ञानशक्ति इन व्यक्तियो मे कहां से आई ? बिना पूर्व जन्म के स्वीकार किये इसका समाधान नही हो सकता।

(ख) भविष्यत का ज्ञान

कभी-कभी कोई व्यक्ति भूत काल मे घटित घटना को—जिससे वह सर्वथा अपरिचित है—या भविष्य मे होने वाली घटना को स्पष्ट देख लेता है। भविष्य मे होने वाली एक ऐसी घटना अभी पत्रो मे प्रकाशित हुई है जो उद्धृत की जाती है[1]:—

स्वेडन देश के स्टाकहोम नगर में हन्स क्रेजर नामी क्लर्क, १९४० के जुलाई मास मे, अपने चौथी मजिल वाले कमरे मे खिडकी के पास बैठा हुआ बाल्टिक सागर की शीतल वायु का सेवन कर रहा था। सामने वाले गृह की चौथी मजिल के कमरे पर उसकी दृष्टि पडी। उसने एक परम सुन्दरी युवती को पुस्तक पढ़ते देखा। वह उसकी ओर देखने लगा, ताकि उसका ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर ले।

अकस्मात् एक अभिनय दिखलाई पडा। उसने उस कमरे मे एक अर्धवयस्क मनुष्य को प्रवेश करते देखा। उसे देखकर युवती भयभीत हुई और चिल्लाकर पुस्तक फेक दी। एक मिनट के पश्चात् एक लम्बा चाकू हवा मे चलते दिखाई पडा। उस मनुष्य ने उस युवती की हत्या कर डाली और वह महिला चिल्लाती हुई गिर पड़ी।

---

[1] यह घटना स्टाकहोम के डेजन्स नेहटर (Dagens Nyhter) पत्रसे उद्धृत करके हिन्दुस्तान टाइम्स नामी अंग्रेजी दैनिक पत्र के १९ मई १९४१ वाले अंक में प्रकाशित हुई है।

यह घटना इतनी शीघ्रता से हुई कि हन्स क्रेजर सहायता के लिये चिल्ला भी नहीं सका। तनिक देर बाद अपने कमरे से निकला। जीने से दौड़ते हुए उतरा। सड़क पार करके उस भवन मे पहुचा। गृहरक्षक को सब घटना सुनाई। पहिले तो वह गृहरक्षक विस्मित हुआ, फिर उपहास करने लगा। उसने समझा कि क्रेजर पागल हो गया है क्योकि वह कमरा जिसमे हत्या वाली घटना बतलाई गई थी, कई सप्ताह से बन्द था, कोई मनुष्य उसमे नही रहता था।

हन्स क्रेजर की सान्त्वना के लिये उसको चौथी मजिल के कमरे में ले जाया गया। वह बिल्कुल खाली था। वहा से उसका कमरा स्पष्ट दिखाई देता था। गृहरक्षक ने पुलिस मैन को बुलाया और क्रेजर वाली घटना का वर्णन किया। कान्सटैबल ने क्रेजर को पागल समझकर फोन द्वारा रोगी की गाडी (Ambulance) मगाई और उसको पागलखाने मे भेज दिया।

एक सप्ताह पश्चात् एक दम्पति उस भवन की चौथी मजिल के कमरे को किराये पर लेने के लिये आया। पुरुष व युवती का हुलिया व युवती के वस्त्र, पागल क्रेजर के कथित वर्णन से मिलते थे। उस दम्पति ने वह कमरा किराये पर ले लिया। तीन मास पश्चात् गृहरक्षक से अन्य किरायेदारो ने कहा कि चौथी मजिल वाले कमरे से—जिसमे वह दम्पति रहता था—चीखने की आवाज आई है। गृहरक्षक किरायेदारो के साथ उस कमरे मे गया और उनकी सहायता से कमरा खोला। युवती मृत पडी थी और वह पुरुष स्तम्भित दशा मे खडा था। उसको पुलिस के सुपुर्द कर दिया गया।

उस व्यक्ति ने स्वीकार किया कि ईर्षावश उसने अपनी पत्नी की हत्या कर डाली है। हत्या का विवरण बिल्कुल वही था, जैसा कि क्रेजर ने पहिले देखा था।

अब डाक्टरो की एक समिति क्रेजर को पागलखाने से छुड़ाने का प्रयत्न

कर रही है, ताकि उसकी मानसिक चेष्टाओं का अन्वीक्षण किया जावे। यदि मनुष्य में भविष्यत् जानने की शक्ति नही है, तो यह कहां से आ गई ?

(३) स्वप्न

स्वप्न मे प्राय. वे बाते स्मरण आया करती है, जिनका हम भूल गये हो या जिनपर जागृत अवस्था में हमारा ध्यान न गया हो। मेयरस् महोदय ने अपनी उपरोक्त पुस्तक मे ऐसी कितनी ही घटनाओ का वर्णन किया है, जिनमे से निम्नलिखित घटनाये उद्धृत की जाती हैं :—

अमेरिका देश मे पेनसिलेवेनिया विश्वविद्यालय के आचार्य लेम्बरटन (Prof. Lamberton) एक समस्या का हल बिना लिखे हुए मौखिक तौर पर करना चाहते थे, समाधान करने मे असफल होकर, उन्होने उस प्रश्न को छोड दिया। एक सप्ताह पश्चात् उन्होंने स्वप्न मे उस समस्या का हल ज्यामित्री के ढग पर दीवाल पर अंकित देखा।

श्री ब्वायल (Boyle) ने—जो शिमला मे अफसर थे—स्वप्न मे अपने श्वसुर का—जिनके स्वास्थ्य सम्बन्ध मे उन्हे कोई चिन्ता न थी—परलोक गमन इगलैड के ब्राइटन (Brighton) नगर मे होते देखा। स्वप्न सत्य निकला। मृत्यु का समय बिल्कुल मिलता था।

मृत्यु के सम्बन्ध मे हम मे से कितने ही मनुष्यो का अनुभव है कि उन्होने स्वप्न मे दूर देश स्थित अपने प्रिय जनो की—जिनके स्वास्थ्य, या मृत्यु के सम्बन्ध में उन्हे किसी प्रकार की भी चिन्ता न थी—मृत्यु होते देखा। बाद को ज्ञात हुआ कि उनके प्रिय जन की मृत्यु ठीक उसी स्थान, समय व ढग पर हुई है, जैसा कि उन्होंने स्वप्न मे देखा था।

ये अनुभव जो जागृत अवस्था मे विद्यमान न थे, भौतिक मस्तिष्क से कैसे उत्पन्न हो गये ?

(४) हिप्नोटिज़्म (Hypnotism)

यह ऐसी चमत्कारिक मानसिक क्रिया है, जिसको केवल भौतिक पदार्थ का मानने वाला व्यक्ति समझने मे असमर्थ है। आरम्भ मे इसके प्रयोगो का—'धोखे की कहानियां' कहकर—उपहास व तिरस्कार किया गया था। परन्तु अब हिप्नोटिज़्म व उसके प्रयोगो मे किसी को सन्देह नही रहा। अब यह स्वीकृत विषय बन गया है।

सबसे प्रथम फ्रासीसी डाक्टर मेसमर (Mesmer) महोदय ने इस बात का पता लगाया कि मनुष्य अपने मानसिक प्रभाव को दूसरे व्यक्ति पर डाल सकता है और इसके द्वारा सिर दर्द आदि अनेक रोगो का उपचार किया जा सकता है। इसके पश्चात् डाक्टर एसडेल[1] (Esdaile) ने कलकत्ता नगर के अस्पताल मे सैकडो रोगियो को अपने मानसिक प्रभाव से अचेत करके उनपर आपरेशन (चीर फाड) किये।

हिप्नोटिज्म द्वारा बालको को शिक्षित किया जा सकता है। उनकी बुराई व दोष दूर किये जा सकते है। एक बालक की यह कुटेव पड गई थी कि बिना उगुलियो के चूसे हुए उसको नीद नही आती थी। उसकी यह कुटेव हिप्नोटिज़्म के प्रयोग द्वारा नष्ट हो गई। जब किसी व्यक्ति पर हिप्नोटिज़्म के प्रयोग किये जाते है, तो उस व्यक्ति की ज्ञानशक्ति विकसित हो जाती है। आखो पर पट्टी बाधकर हाथ से टटोल कर वह व्यक्ति रगों को पहचान सकता है। ऐसी दशा मे उस व्यक्ति से जो कुछ कहा जाता है, उसी के अनुसार वह कार्य करने लगता है।

मनुष्य मे ज्ञान के कई स्तर (तह, Layers) कहे जा सकते है, जिनमे से कुछ स्तर सुषुप्ति दशा मे पडे रहते है। जब किसी व्यक्ति पर हिप्नो-

---

[1] **उपरोक्त पुस्तक** The human personality and its Survival of bodily death **का पैरा ५०७**

टिज्म के प्रयोग किये जाते हैं, तो उसके ज्ञान के सुषुप्त स्तर प्रकाश मे आ जाते हैं और ऊपर वाले जागृत स्तर शान्त सुषुप्त दशा को पहुच जाते है। उस व्यक्ति के सुषुप्त ज्ञान स्तरों के जागृत होने के कारण ही, वह हिप्नोटिज़्म करने वाले मनुष्य के प्रभाव को ग्रहण कर लेता है; उसकी शिक्षा व आदेश को मानता है। इसी कारण उसकी कुवृत्तियां सदा के लिये नष्ट हो जाती है एवं उसके रोग दूर हो जाते है। ये मानसिक शक्तिया भौतिक मस्तिष्क से कैसे उत्पन्न हो सकती है ?

(५) चमकीले पदार्थ पर दृष्टि जमाना

विशेष ज्ञान प्राप्त करने के लिये किसी चमकते हुए पदार्थ पर टकटकी लगाकर देखने की प्रथा ससार के भिन्न-भिन्न प्रदेशो में बहुत काल से चली आ रही है। इस कार्य के लिये बिल्लौर, दर्पण, पालिश किया हुआ लोहा, जल से भरा हुआ बर्तन या किसी और चमकते हुए पदार्थ का प्रयोग किया जा सकता है। यह कहा जाता है कि कोई व्यक्ति, विशेषकर बालक, यदि किसी चमकते हुए पदार्थ पर टकटकी लगाकर ध्यानपूर्वक देखे, तो उसके समक्ष भूत एव भविष्यत घटनाओ के दृश्य आने लगते है। इन घटनाओं की परीक्षा वैज्ञानिक ढग से की गई है।

एक बार एक ऐसे ही चमकते पदार्थ के दर्शक ने सर जोज़फ बार्नबी[1] (Sir Joseph Barnby) से एक ऐसी ही घटना मे देखी हुई महिला का वर्णन किया, जो विशेष प्रकार के वस्त्र पहिने हुए थी। वर्णन से बार्नबी महोदय ने उस महिला को अपनी पत्नी समझा; परन्तु वह उस प्रकार के आभूषण नही पहिनती थी, इसलिये उसको उस कथा पर विश्वास नही हुआ। घर लौटने पर यह देखकर आश्चर्यान्वित हो गया

---

[1] उपरोक्त पुस्तक से उद्धृत।

कि श्रीमती बार्नबी कथित विशेष प्रकार के ही वस्त्र पहिने हुई थी। ये वस्त्र उसने इस बीच मे मोल ले लिये थे। बिल्लौर के दर्शक ने १८ मास पश्चात् भीड़ मे श्रीमती बार्नबी को वे ही वस्त्र पहिने हुए देखा और तत्काल ही पहिचान लिया कि यह वही महिला है, जिसको उसने बिल्लौर मे देखा था।[1] दर्शक ने जब यह दृश्य पहिले नही देखा था, तो उसके मस्तिष्क ने कहा से उत्पन्न कर दिया।

(६) विचार प्रेषण (Telepathy)

प्राचीन काल से कहावत चली आती है कि दूरस्थित उच्च आत्माओं तक हम अपनी भावनाये बिना किसी वाह्य सहायता के पहुचा सकते है, जैसा कि प्रार्थना मे। यदि यह बात सत्य है, तो यह मानना असगत न होगा कि एक ही स्थिति वाली दूरस्थित दो आत्माये भी परस्पर विचारों का परिवर्तन कर सके। इन घटनाओ की सत्यता का निर्णय अनुसन्धान द्वारा वर्तमान काल मे किया गया है।

श्री गरनी (Gurney) ने लिवर पूल के न्यायाधीश श्री गठरी (Mr Guthrie, J. P. of Liverpool) के बहुत से अनुसन्धानो[2] को लेखबद्ध किया है। गठरी महोदय इन बातो मे पहिले विश्वास नही करते थे। इन अनुसन्धानों मे रग, रेखागणित की

---

[1] उपरोक्त पुस्तक में निम्नलिखित घटना भी दी हुई है :—मिस ए० गुडरिच्छ फ़ियर (Miss A. Goodrich Freer) को एक बार बिल्लौर पर टकटकी लगाकर देखने से बाढ़ पर लगी हुई बहुत लम्बी मोटी मटर का दृश्य दिखलाई दिया। कुछ समय के पश्चात् पड़ौसी के बाग में जाने पर—जिसमें वह पहले कभी नहीं गई थी—बड़ी लम्बी मटर वाली बाढ़ सामने दिखलाई पडी।

[2] उपरोक्त पुस्तक के पैरे ६३० व ६६८

शक्ले, ताश व अन्य पदार्थों की भावनाओं को दूर प्रेषित किया गया था। निश्चित समय पर श्री गठरी ने एक स्थान पर स्थिर होकर एवं अपने मन को एकाग्र करके पूर्ण सकल्प शक्ति के द्वारा इन वस्तुओं की भावनाओं को दूसरे स्थान पर स्थित मनुष्य तक प्रेषण करना प्रारम्भ किया। इस दूसरे व्यक्ति ने बिना अपनी बुद्धि को प्रयोग मे लाये हुए यत्र की भांति चित्र खीचना प्रारम्भ किया। ये चित्र श्री गठरी की प्रेषित वस्तुओं की भावनाओं से मिलते जुलते थे। लगभग १५० अनुसन्धान एक मास मे गठरी महोदय ने किये थे। उन्होने उन चित्रो को सम्हाल कर रखा है। इनमे से कुछ चित्र मेयरस् महोदय की उपरोक्त पुस्तक में मुद्रित है। इन चित्रो के देखने से ज्ञात होता है कि ये अटकल या अकस्मात् नही बने है।

इसके पश्चात् सर आलीवर लाज (Sir Oliver Lodge) ने श्री गठरी के साथ मिलकर पुन. स्वतंत्र अनुसन्धान किये और उपरोक्त घटनाओ को सत्य पाया।

उपरोक्त भावनाओ के प्रेषित करने के अतिरिक्त कुछ ऐसी घटनायें है, जिनमे मनुष्य का भौतिक शरीर उसी स्थान पर रहते हुए भी, उसका व्यक्तित्व दूसरे स्थान तक चला जाता है, परन्तु उस व्यक्ति को इसका पता भी नही लगता है। मिश्र देश के काहरा (Cairo) नगर के होटल मे दो अंग्रेजी महिलाये[1] एक रात्रि को सो रही थी। जब वे जागृत अवस्था मे थी, उन्होने एक अंग्रेज मित्र को—जो उस समय इगलैड मे विद्यमान था—देखा। पता लगाने पर ज्ञात हुआ कि उनका मित्र उस दिन बडा ही चिन्तित था और अग्नि के पास बैठा हुआ कुछ परामर्श करने के लिये, उनमे से एक महिला से मिलने के लिये बड़ा उत्सुक था।

---

[1] उपरोक्त पुस्तक का पैरा ६६५

पादरी गाडफ्रे (Rev. Godfrey) ने विचार प्रेषण (Telepathy) की बातो से प्रभावित होकर स्वय अनुसन्धान करने का सकल्प किया। एक रात्रि को शय्या पर स्थित होकर, मन को एकाग्र करके, उन्होने एक दूर स्थित मित्र महिला के सम्मिलन पर अपने ध्यान को पूर्ण संकल्प के साथ लगाया। कुछ मिनट तक ध्यान लगाने पर उनको नीद आ गई। प्रात काल जागने पर उन्हे प्रतीत हुआ कि वे अपनी मित्र महिला से मिल लिये है। इस अनुसन्धान का तनिक सा भी सकेत उन्होने अपनी मित्र महिला से पहिले नहीं किया था। दूसरे दिन पता लगने पर यह सुनकर स्तम्भित रह गये कि उनकी मित्र महिला ने उसी रात्रि को उन्हे ज़ीने पर खडा हुआ प्रत्यक्ष देखा था, मोमबत्ती दिखलाने पर वे एकदम अदृश्य हो गये। उन्होने यह अनुसन्धान दुबारा भी किया और उसमे भी सफल हुए। इससे स्पष्ट है कि न केवल भावनाये ही वरन् मनुष्य का व्यक्तित्व भी, उसके भौतिक शरीर के वही रहते हुए दूसरे स्थान तक प्रेषित किया जा सकता है।

इन भिन्न-भिन्न घटनाओ को बडी कुशलता के साथ श्री मेयरस् व अन्य विद्वानो ने अनुसन्धान करके पुस्तकों मे सगृहीत किये है, जिनकी सत्यता मे किसी को भी सन्देह नही होना चाहिये। इन घटनाओ का सन्तोषप्रद उत्तर वैज्ञानिक अपने भौतिक विज्ञान के आधार पर देने मे असमर्थ है। इनका उत्तर अध्यात्म तत्व के आधार पर ही दिया जा सकता है।

(७) क्या शारीरिक मृत्यु होने पर मनुष्य का व्यक्तित्व नष्ट हो जाता है ?

इस विषय मे वैज्ञानिक श्री मेयरस् (Meyers), सर विलियम क्रूक्स (Sir William Crooks), सर आर्थर कानन डायल (Sir Conan Doyle) एव प्रसिद्ध वैज्ञानिक सर आलीवर लाज

(Sir Oliver Lodge)—जो रायल सोसाइटी के अध्यक्ष भी रहे हैं—ने बहुत से अनुसन्धान किये हैं। इन अनुसन्धानो से आत्मा का शारीरिक मृत्यु के पश्चात् भी जीवित रहना प्रमाणित होता है। ये अनुसन्धान दो प्रकार के हैं :—

(क) जिनमे मनुष्य की आत्मा मृत्यु के पश्चात् फिर मनुष्य जन्म धारण करता है।

(ख) जिनमे मनुष्य की आत्मा मृत्यु के पश्चात् प्रेत योनि मे जन्म लेता है।

(क) मनुष्य योनि मे जन्म

पुनर्जन्म के बहुत से उदाहरण पाश्चात्य विद्वानो ने सगृहीत किये हैं। भारतवर्ष मे मृत्यु के पश्चात् पुन. मनुष्य योनि मे जन्म लेने की कितनी ही घटनाये होती रहती है। अभी सन् १९२६ की बात है कि युक्तप्रान्त के बरेली नगर मे श्री केकयनन्दन वकील के एक पुत्र उत्पन्न हुआ।[1] जब यह बालक ५ वर्ष का हुआ और बोलना सीख गया, तो वह अपने पूर्व जन्म की बाते कहने लगा कि पूर्व जन्म मे मै बनारस निवासी बबुआ पाडे का पुत्र था। उस बालक के पिता श्री केकयनन्दन, कई मित्रों के साथ, उस बालक को बनारस ले गये और बालक के बतलाये हुए स्थान पर पहुचे। उस समय बनारस के ज़िलाधीश श्री वी० एन० मेहता (Mr. V. N. Mehta) भी उपस्थित थे। बालक बबुआ महाराज तथा उस मोहल्ले के एकत्रित सज्जनों को उनके नाम ले-ले कर पुकारने लगा और उनसे मिलने की उत्सुकता प्रगट करने लगा। अपने पूर्व जन्म

---

[1] इलाहाबाद के प्रसिद्ध दैनिक पत्र लीडर (Leader) में ये समाचार छपे थे और लेखक ने स्वयं बरेली जाकर इसकी सत्यता का निश्चय किया था।

के गृह तथा बहुत सी वस्तुओं को पहिचान लिया और अनेक प्रश्न पूछने लगा कि अमुक-अमुक वस्तुये कहां-कहा है और कैसी हैं। उस बालक का बतलाया हुआ पूर्व जन्म का समस्त वृत्तान्त बिल्कुल सत्य निकला। यह बालक अब भी जीवित है, परन्तु पूर्व जन्म की अब उसकी स्मृति नष्ट हो गई है।

(ख) प्रेतयोनि में जन्म

मनुष्य की आत्मा का मृत्यु के पश्चात् प्रेत योनि मे जाकर अपने सम्बन्धी एव मित्रो को दिखलाई देने व वार्तालाप करने के सम्बन्ध मे श्री मेयरस् व श्री गरनी ने बहुत से अनुसन्धान किये हैं, जो उपरोक्त पुस्तक मे अकित हैं। ऐसी बहुत सी घटनाये भारतवर्ष मे भी होती रहती हैं और उनमे से अनेक समाचार पत्रो मे भी मुद्रित हुई है परन्तु उनकी सत्यता वैज्ञानिक अनुसन्धान की कसौटी पर नही जांची गई। इसलिये उनका विवरण नही दिया जाता है। कुछ घटनाये उपरोक्त पुस्तक से उद्धृत की जाती है :—

१. प्रेतयोनि मे उत्पन्न होकर दिखलाई देना

केप्टेन कोल्ट (Captain Colt)[१] का एक भाई सेना मे था जो सेवसटोपल स्थान पर युद्ध कर रही थी। उनमे प्राय: पत्र व्यवहार हुआ करता था। एक बार जब उसका भाई उदास था, तो केप्टेन कोल्ट ने उसको लिखा कि तुम प्रसन्न रहो, उदासी को पास मत आने दो; यदि कोई विशेष बात हो तो स्काटलैंड मे आकर मुझसे मिलो। कुछ दिनो के पश्चात् एक रात्रि को केप्टेन सहसा जाग उठा और अपने भाई की छाया को देखा। उसके चारो ओर पीला कोहरा सा था। वह पलग के पास घुटने टेक रहा था। वह छाया केप्टेन के सिर के चारों ओर घूमी और

---

[१] उपरोक्त पुस्तक का पैरा ७२५ (ग)

उसकी ओर प्रेम भरी चिन्तित दृष्टि से देखती रही। केप्टेन ने उसकी दाहिनी कनपटी पर एक घाव देखा, जिससे रक्तधारा बह रही थी। एक पक्ष बाद केप्टेन को सूचना मिली कि उसके भाई की मृत्यु हो गई है; उसका शव घुटने टेकती हुई अवस्था में पाया गया था, उसकी कनपटी पर गोली का घाव था और उसकी जेब मे केप्टेन का उपरोक्त पत्र भी था।

२. प्रेत योनि मे उत्पन्न होने के कितने ही समय पश्चात् दिखलाई देना

केप्टेन टाउन्स[1] (Captain Towns) की मृत्यु के पश्चात् एक रात्रि को उनकी पुत्री ने अपनी महिला मित्र के साथ शयनगृह मे प्रवेश किया, जिसमे गैस का प्रकाश हो रहा था। यह देखकर वह स्तम्भित रह गई कि मृत पिता का प्रतिबिम्ब तोशखाने की चमकती हुई दीवाल पर पड रहा है। उस कमरे मे उनका कोई चित्र न था, इसलिये यह प्रतिबिम्ब किसी चित्र का नही हो सकता था। चार सेवकों को बुलाया गया; उन्होने भी प्रतिबिम्ब को देखकर अपने मृत स्वामी को पहिचान लिया। अन्त मे श्रीमती टाउन्स को भी बुलाया गया। उन्होंने भी प्रतिबिम्ब को स्पष्ट तौर पर देखा और उसको स्पर्श करने के लिये आगे बढ़ी, तो वह प्रतिबिम्ब धीरे-धीरे लुप्त हो गया।

३. प्रेत बोलते भी है

दयागृह की अधिष्टात्री बहिन बरथा[2] (Sister Bertha Superior of the House of Mercy) के सम्बन्ध में एक

---

[1] उपरोक्त पुस्तक का पैरा ७४१

[2] उपरोक्त पुस्तक का पैरा ७४३ (अ)

घटना अंकित की गई है। उन्होंने यह वाक्य सुना कि "मै आपके पास हूँ"। स्वर से उन्होंने पहिचाना कि ये शब्द उनकी मित्र व शिष्या मिस लूसी (Miss Lucy) के है। किसी को न देखकर बहिन बरथा ने पूछा कि 'आप कौन है'? उत्तर मिला कि "आपको अभी ज्ञात नही होना चाहिये"। दूसरे दिन उन्हे ज्ञात हुआ कि मिस लूसी की मृत्यु उसकी छाया आने के १२ घटे पूर्व हो चुकी थी।

४. प्रेतों का गृहवास

एक श्रीमती एम[1] (M) थी। उनको यह ज्ञात न था कि उनके नवीन गृह मे प्रेतो का वास है। एक रात्रि को सोते हुए उसने सिसकने की ध्वनि सुनी। सिसकने की ध्वनि लगातार होते रहने पर, उसने खिडकी खोली। उसको बाहर घास पर एक परम सुन्दरी युवती दिखलाई दी, जो फ़ौजी वस्त्रो से युक्त एक सेनाध्यक्ष के सामने घुटने टेक रही थी। यह दृश्य देखकर श्रीमती एम जीने से नीचे गईं और युवती से कहा कि मेरे पास आकर अपने दुख की कहानी कहो। इतने मे वे मूर्तियां अदृश्य हो गईं। कुछ समय के पश्चात् ज्ञात हुआ कि वह गृह एक प्राचीन स्वाभिमानी परिवार का था। उस गृहवामिनी एक युवती की हत्या की गई थी। हत्यारा सेनाध्यक्ष उसका पिता था। उससे उस युवती ने क्षमा-याचना की थी, परन्तु वह अस्वीकृत की गई थी। कुछ महीनो के पश्चात् श्रीमती एम ने उस सेनाध्यक्ष का चित्र देखा। चित्र देखते ही पहिचान लिया कि यह उसी पुरुष का चित्र है, जिसको उसने उस रात्रि की घटना मे देखा था।

---

[1] उपरोक्त पुस्तक का पैरा ७४५ (आ)

५. प्रेतयोनि मे शरीर मनुष्य के शरीर सदृश भौतिक नही होता

निम्नलिखित घटना[1] बडी महत्वपूर्ण है, इसकी सत्यता भलीभाति जांच की गई है —मिस मार्टन (Miss Morton) ने गृह मे वास करने वाली प्रेत महिला को कई बार देखा था। यह परीक्षा करने के लिये कि क्या प्रेतों का मनुष्य के सदृश भौतिक शरीर होता है, उसने जीने की सीढियों पर कुछ उत्तम लचकदार तार इस भाँति लगा दिये कि यदि उनपर होकर कोई जावे, तो वे तत्काल ही गिर पडे, परन्तु वे दिखलाई न दे। प्रेत महिला उन तारों पर होकर आई, परन्तु उन तारों में से किसी भी तार में ठसक नही लगी। मिस मार्टन ने उस प्रेत की छाया को स्पर्श करने के कई बार प्रयत्न किये, परन्तु सावधानी-पूर्वक प्रयत्न करने पर भी वह सफल न हो सकी। उसने यह भी प्रयत्न किया कि उस प्रेत की छाया को रोक ले, परन्तु वह प्रेत खुले या बन्द द्वार मे से बडी सरलता के साथ यकायक निकलकर अदृश्य हो जाता था।

उपरोक्त घटनाओ के अतिरिक्त मेज़ के ऊपर उठने, ढालू होने तथा बिना किसी बाहरी सहायता के स्वय लिखने आदि के बहुत से अनुसन्धान सर आलीवर लाज आदि कितने ही वैज्ञानिको ने किये है, जिनके द्वारा मनुष्य मृत आत्माओं से बातचीत कर सकता है। सम्भव है, इस सम्बन्ध मे कुछ धोखा भी दिया गया हो। परन्तु इन घटनाओ की सत्यता की परीक्षा भलीभांति की जा चुकी है।

६. मृत आत्मा से बातचीत करना

प्रसिद्ध वैज्ञानिक सर आलीवर लाज का पुत्र रेमड (Reymond) गत यूरोपीय महासमर के सितम्बर सन् १९१५ मे फलेडरस्(Flanders)

---

[1] उपरोक्त पुस्तक का पैरा ७५१ (अ)

प्रदेश में मारा गया था। मृत्यु के समय रेमंड की आयु २६ वर्ष की थी। सर आलीवर लाज ने मृत आत्माओं से, विशेष कर, अपने पुत्र रेमंड की मृत आत्मा से बातचीत करने के बहुत से अनुसन्धान किये, जिनको उन्होंने 'रेमड मेथ्यून' (Reymond Methuen), 'विज्ञान व मानव उन्नति' (Science and Human Progress) एवं 'मैं क्यों आत्मा के अमरत्व मे विश्वास करता हू' (Why I believe in Personal Immortality) नामक तीन पुस्तको मे अंकित किये है। इन अनुसन्धानो से उनको विश्वास हो गया था कि शारीरिक मृत्यु के पश्चात् भी आत्मा जीवित रहता है।

मेयरस्, सर आलीवर लाज, कानन डायल के अतिरिक्त रस्किन (Ruskin), एलफ्रेड रसल वालेस (Alfred Russel Wallace), सर विलियम क्रूक्स (Sir William Crooks), सर एडवर्ड मार्शल हाल (Sir Edward Marshal Hall) आदि अन्य प्रसिद्ध विद्वानों ने भी इन विषयो पर अनेक अनुसन्धान किये है। मनोविज्ञान समिति के उपरोक्त भिन्न-भिन्न अनुसन्धानो से भी स्पष्ट है कि मनुष्य में भौतिक शरीर के अतिरिक्त एक अन्य सूक्ष्म पदार्थ है, जिसको आत्मा कहते है। यह आत्मा ज्ञान की अद्भुत शक्तियो से भरपूर है और शारीरिक मृत्यु के पश्चात् भी जीवित रहता है।

५—आत्मा का वास्तविक स्वरूप

यह निर्णय हो जाने पर कि मनुष्य, पशु, पक्षी आदि समस्त प्राणी दो पदार्थ पुद्गल व आत्मा के बने हुए हैं, इन प्राणियो का दृश्य बाह्य भाग शरीर हाड, मास आदि भौतिक पदार्थों का बना है और इन प्राणियों का अन्तरंग भाग—जिसमे पदार्थों के देखने, जानने, हित-अहित विचारने, पूर्व काल की बातो के स्मरण रखने, सकल्प शक्ति व अनेक प्रकार की रागद्वेषादि भावनाये है—आत्मा (जीव) है, यह प्रश्न स्वभाविक ही उठता है कि आत्मा का वास्तविक स्वरूप क्या है, जो वर्तमान अवस्था मे देखने, जानने रूप ज्ञान गुण, सकल्प शक्ति व अनेक प्रकार की काम क्रोध आदि भावनाओ के रूप मे प्रतिभासित होता है। जीव के वास्तविक स्वरूप का निर्णय हो जाने पर आत्मा सम्बन्धी अन्य गूढ प्रश्नों का समाधान सरलता पूर्वक हो सकेगा।

(१) ज्ञान स्वरूप

यह निर्धारित किया जा चुका है कि मनुष्य मे पदार्थ देखने जानने, हित-अहित पहिचानने, विचार करने, अतीत की बातें स्मरण रखने का ज्ञान गुण है।

पदार्थ का ज्ञान मनुष्य को ध्यानपूर्वक देखने, विचारने, गुरु या अन्य ज्ञानी पुरुष के उपदेश या पुस्तक के अध्ययन से प्राप्त होता है। यह जानना आवश्यक है कि मनुष्य मे यह ज्ञान कहा से आता है ? क्या यह ज्ञान पदार्थ या पुस्तक में से निकल कर मनुष्य मे प्रवेश कर जाता है ? क्या इस ज्ञान को गुरु जी अपने ज्ञान मे से पृथक करके शिष्य को प्रदान कर देते है ? वस्तु या पुस्तक स्वयं ज्ञानशून्य है और भौतिक पदार्थ की बनी हुई है, इस-

लिये ज्ञान इसके भीतर से निकल कर नहीं आ सकता। गुरु जी यदि अपने ज्ञान मे से कुछ अश पृथक करके शिष्य को दे देते है, तो गुरु जी के ज्ञान मे कुछ न्यूनता आ जानी चाहिये। अनुभव बतलाता है कि ज्यो-ज्यो आचार्य महोदय शिष्य को ज्ञान प्रदान करते है, त्यो-त्यो आचार्य व शिष्य दोनों के ज्ञान मे वृद्धि होती है। इसलिये यह मानना पड़ता है कि यह ज्ञान गुरु जी के ज्ञान मे से पृथक होकर शिष्य में नही आता है। गुरु, पुस्तक या अन्य वाह्य पदार्थ मे से ज्ञान के न निकलने एव मनुष्य मे न प्रवेश करने से, इस परिणाम पर पहुँचने के लिये वाध्य होना पडता है कि यह ज्ञान मनुष्य के भीतर स्वय अव्यक्त दशा मे विद्यमान है और वस्तु के ध्यानपूर्वक देखने, विचारने, गुरु-उपदेश या पुस्तक के अध्ययन से मनुष्य का यह अव्यक्त ज्ञान विकसित होकर व्यक्त दशा को प्राप्त हो जाता है।

मानव समाज को ध्यानपूर्वक देखने से ज्ञात होता है कि यह ज्ञान गुण प्रत्येक मनुष्य मे एक सी मात्रा में नही पाया जाता। किसी की बुद्धि तीव्र होती है और किसी की मन्द। किसी की स्मरणशक्ति प्रबल है और किसी की निर्बल। कोई विद्वान है और कोई ठेठ गवार। यदि एक मनुष्य गणित का पडित है, तो दूसरा विज्ञान का वेत्ता, तीसरा दर्शन-शास्त्र का आचार्य, चतुर्थ आदि अर्थशास्त्र, इतिहास, राजनीति आदि के विद्वान है। कोई व्यक्ति एक भाषा जानता है और कोई दूसरी भाषा। इस प्रकार ज्ञान गुण मानव समाज के भिन्न-भिन्न व्यक्तियो मे भिन्न-भिन्न दशा, अवस्था व मात्रा मे पाया जाता है। कोई भी ऐसे दो व्यक्ति दृष्टि-गोचर नही होते कि जिनमे ज्ञान गुण एकसी अवस्था व मात्रा में पाया जावे। ज्ञान की मात्रा प्रत्येक व्यक्ति मे भिन्न-भिन्न पाई जाती है।

यह देखा जाता है कि एक व्यक्ति, जो पहिले किसी विषय से सर्वथा अनभिज्ञ है, प्रयत्न करने पर थोडे समय मे ही उस विषय का पारगामी हो जाता है। एक भारतवासी—जो अग्रेजी भाषा से सर्वथा अपरिचित होता है—कुछ समय तक प्रयत्न करने पर उस भाषा (अग्रेजी) का विद्वान

बन जाता है और अंग्रेजी भाषा मे अपने विचारो को अंग्रेजो की भांति प्रगट करने लगता है। यदि कोई मनुष्य इतिहास से अनभिज्ञ है और वह इतिहासज्ञ बनना चाहता है, तो प्रयत्न करने पर धीरे-धीरे इतिहास के ग्रथो का अध्ययन करता हुआ इतिहासवेत्ता बन जाता है। इसी प्रकार एक व्यक्ति—जो किसी विषय से सर्वथा अनभिज्ञ है—प्रयत्न करने पर उस विषय का पडित हो जाता है।

इस बात से कि कोई भी विषय—जो किसी मनुष्य के ज्ञानगोचर है—प्रयत्न किये जाने पर दूसरे मनुष्य के ज्ञानगम्य हो सकता है, प्रतीत होता है कि समस्त वस्तुये व समस्त विषय—जो किसी भी व्यक्ति के ज्ञानगोचर है—ठीक प्रकार प्रयत्न किये जाने पर दूसरे व्यक्ति के भी ज्ञानगम्य हो सकते है। इस विवेचन से इस सिद्धान्त पर पहुचा जाता है कि इन दोनों व्यक्तियों मे ज्ञानशक्ति बराबर है, परन्तु इस ज्ञानशक्ति का विकास इन दोनों मे भिन्न-भिन्न है। जिस व्यक्ति में ज्ञान की मात्रा न्यून है, वह व्यक्ति अपनी ज्ञानशक्ति को, उचित साधन द्वारा विकसित करके, दूसरे व्यक्ति की ज्ञानशक्ति के विकास के बराबर कर सकता है। जो सिद्धान्त इन दो व्यक्तियों के लिये स्थिर होता है, वही सिद्धान्त उपरोक्त युक्ति द्वारा मानव समाज के समस्त व्यक्तियों के लिये स्थिर होगा। इस विवरण से यह सिद्धान्त निश्चित होता है कि मानव समाज के प्रत्येक व्यक्ति मे ज्ञानशक्ति बराबर है, परन्तु इस ज्ञानशक्ति का विकास भिन्न-भिन्न व्यक्तियों मे भिन्न-भिन्न है। जिन व्यक्तियो मे ज्ञानशक्ति का विकास कम है, प्रयत्न करने पर उनकी ज्ञानशक्ति के विकास मे वृद्धि हो सकती है।

मानव समाज के समस्त व्यक्तियों मे ज्ञानशक्ति एकसी होने से स्पष्ट है कि एक मनुष्य यदि उसके मार्ग मे व्याधि, रोग, मृत्यु आदि आपत्तियां उपस्थित न हो और उचित साधन उसको प्राप्त होते रहें, तो वह मनुष्य उन समस्त विषय एव पदार्थों का ज्ञान प्राप्त कर सकता है, जो किसी दूसरे व्यक्ति को प्राप्त है, पूर्व काल मे प्राप्त था या भविष्य में प्राप्त होगा।

ऐसी कोई वस्तु हो नही सकती, जो किसी भी व्यक्ति के ज्ञानगोचर न हो। यदि कहा जावे कि ऐसे अज्ञात पदार्थ विद्यमान है, जो किसी भी व्यक्ति के ज्ञानगोचर न थे, न हैं और न होंगे, तो उस कहने वाले व्यक्ति से (प्रत्युत्तर मे) पूछा जा सकता है कि ऐसे अज्ञात पदार्थों की—जो किसी भी व्यक्ति के ज्ञानगम्य नही है—सत्ता का प्रमाण ही क्या है ? यदि सत्ता का प्रमाण है, तो ये पदार्थ अज्ञेय की श्रेणी से निकल कर ज्ञेय की श्रेणी में आ जाते है और उनका ज्ञान मनुष्य को हो सकता है। यदि इनकी सत्ता का कोई प्रमाण नही है, तो यही मानना पड़ता है कि ये पदार्थ कल्पित है, इनका कोई अस्तित्व वास्तव मे नही है।

इन बातों से—कि मनुष्य उचित प्रयत्न करने पर समस्त पदार्थ व विषयों का ज्ञाता हो सकता है और यह ज्ञानशक्ति मनुष्य मे अव्यक्त दशा में पहिले ही से विद्यमान है—स्पष्ट है कि मनुष्य मे स्वभाव से ही सम्पूर्ण पदार्थों के जानने की शक्ति अव्यक्त दशा में विद्यमान है। दूसरे शब्दो मे यह कहा जा सकता है कि मनुष्य मे सर्वज्ञता का गुण शक्ति रूप से अव्यक्त दशा मे विद्यमान रहता है। इस अव्यक्त ज्ञानशक्ति के न्यून या अधिक विकसित होने के कारण ही, भिन्न-भिन्न मनुष्यों के ज्ञान मे इतना अधिक अन्तर पाया जाता है। इस अव्यक्त ज्ञानशक्ति के पूर्ण विकसित होने पर, मनुष्य सम्पूर्ण पदार्थों का ज्ञाता अर्थात् सर्वज्ञ हो सकता है।

हस्ति आदि बडे-बडे पशुओ मे भी वस्तु देखने, विचारने, हित-अहित पहिचानने व स्मरण रखने की शक्ति पाई जाती है। परन्तु यह ज्ञान-शक्ति मनुष्य की अपेक्षा पशुओ मे न्यून मात्रा में है, जिससे ज्ञात होता है कि पाशविक जीवन मे ज्ञान का विकास बहुत कम है। पक्षी, जलचर कीट पतग आदि छोटे-छोटे जन्तुओं मे तो इस ज्ञानशक्ति का विकास और भी कम है। जो अव्यक्त ज्ञानशक्ति युक्ति से मनुष्य में सिद्ध होती है, वही ज्ञानशक्ति अव्यक्त दशा मे पशु, पक्षी आदि जीवो मे भी माननी

होगी। इसलिये प्रत्येक जीव मे सर्वज्ञता का गुण अव्यक्त दशा मे स्वभाव से ही मानना होगा।

जिस प्रकार सासारिक मनुष्य मे विविध विषयों का ज्ञान एक ही साथ एकही समय मे विद्यमान रहता है, उसी प्रकार सर्वज्ञ मे भी समस्त पदार्थ व विषयों का ज्ञान एक साथ, एक ही समय विद्यमान रहता हुआ मानना होगा।

अन्य प्रकार विचारने से भी उपरोक्त परिणाम पर पहुचा जाता है। सासारिक दशा में आत्मा, वाह्य पदार्थों का ज्ञान, नेत्र आदि इन्द्रिय एवं मस्तिष्क की सहायता से प्राप्त करता है। जब यह आत्मा उचित प्रयत्न करने पर पूर्ण विकसित व शुद्ध हो जावेगा और उसको वाह्य इन्द्रिय व मस्तिष्क की आवश्यकता नही रहेगी, उस समय यह आत्मा, बिना वाह्य इन्द्रिय व मन की सहायता के, अपने दिव्य ज्ञान से ससार के समस्त पदार्थों को जान सकेगा। सांसारिक दशा मे इन्द्रिय द्वारा प्राप्त ज्ञान सीमित है। नेत्र आदि इन्द्रियों की पहुच कुछ क्षेत्र व वर्तमान काल तक परिमित है, अधिक दूरी एव अविद्यमान वस्तु का ज्ञान इनकी शक्ति से बाहर है। मन अनुमान द्वारा भूत व भविष्यत की बातो का ज्ञान प्राप्त करता है, परन्तु यह ज्ञान पूर्णतया निर्मल, स्वच्छ या निस्सन्देह नही होता, भ्रम होने की आशका रहती है। जब ज्ञान दिव्य होकर अतीन्द्रिय हो जाता है, इन्द्रिय सहायता की आवश्यकता नही रहती एव उनके प्रयोग को छोड़ देता है, उस समय ज्ञान असीमित व अनन्त हो जाता है। उस ज्ञान को सीमित करने वाली कोई वस्तु या रुकावट नही रहती। उस दिव्य ज्ञाता की दृष्टि मे अतीत, अनागत एव दूरवर्ती पदार्थ उसी प्रकार प्रतिभासित होते है, जैसे कि वर्तमान काल सम्बन्धी समीपवर्त्ती वस्तु। इस प्रकार वह अपने दिव्यज्ञान से भूत, भविष्यत, वर्तमान काल सम्बन्धी त्रिकालवर्त्ती समस्त पदार्थों को जान सकेगा। इस दृष्टि से भी आत्मा में सर्वज्ञता का गुण शक्ति रूप से सिद्ध होता है।

आत्मा के ज्ञान स्वभाव की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को ध्यान में रखते हुए, इस ज्ञान स्वभाव को दो अवस्थाओ में विभक्त किया जा सकता है :-

(१) दर्शन—मनुष्य जब किसी पदार्थ को नेत्र के द्वारा देखता या उसका अनुभव अन्य इन्द्रियो के द्वारा करता है, तो पहिले उस मनुष्य को उस पदार्थ का आभास मात्र ज्ञान होता है। इस आभास मात्र ज्ञान को **दर्शन** कह सकते है।

(२) ज्ञान—विचारना, अनुभव करना, स्मरण रखना आदि ज्ञान की समस्त अवस्थाये जो पदार्थ के प्रथम दर्शन (आभास मात्र ज्ञान) के पश्चात् होती है। इन समस्त ज्ञान अवस्थाओ को **ज्ञान** शब्द से ही पुकार सकते है। इस प्रकार आत्मा के ज्ञान स्वभाव को **दर्शन** व **ज्ञान** दो स्वभावो मे विभक्त किया जा सकता है।

(२) आनन्द स्वरूप

मनुष्य के स्वरूप का विवेचन करते हुए निश्चय किया जा चुका है कि मनुष्य मे काम क्रोध आदि अनेक प्रकार की वासना व भावनाये पाई जाती है। यह ज्ञात करना आवश्यक है कि क्या ये समस्त भावनाये आत्मा के स्वभाव रूप है ? यदि ये भावनाये आत्मा के स्वभाव रूप नही है, तो क्या ये आत्मा के किसी विशेष स्वरूप या स्वभाव के विकृत रूप है ? यदि ये भावनाये आत्मा के किसी विशेष स्वभाव के विकार या विभाव है, तो आत्मा का वह विशेष स्वभाव क्या है ? जो विकृत होकर काम क्रोध आदि अनेक प्रकार के विभावों मे प्रदर्शित हो रहा है।

मनुष्य मे विद्यमान काम, क्रोध आदि भावनाओं पर विचार करने से ज्ञात होता है कि किसी भी व्यक्ति मे ये समस्त भावनाये एक ही साथ, एक ही समय मे, नही पाई जाती है। इन भावनाओ मे से एक या अधिक भावना प्रति समय विद्यमान रहती है। मनुष्य जब क्रोधित होता है, तो क्षमा, दया आदि शुभ भावनाये उस समय दिखलाई नही देती। जब

कोई व्यक्ति अपने बल, धन, ऐश्वर्य आदि से गर्वोन्वित होता है, उस समय उसमे नम्रता के भाव नही पाये जाते। मनुष्य जब शोक से व्याकुल या भय से कम्पित होता है, उस समय उसमे प्रसन्नता के भाव विद्यमान नही रहते। जब किसी व्यक्ति के हृदय मे किसी रोगी, दुखी, अबला की करुणाजनक अवस्था देखकर दया के भावो का सचार होता है, उस समय उसके हृदय मे से निर्दयता, कठोरता के भाव लुप्त हो जाते हैं। जब किसी मनुष्य का हृदय, किसी सुखद समाचार के सुनने पर हर्ष से प्रफुल्लित हो उठता है, उस समय उसके हृदय से दुख, शोक, भय आदि भावनाये कुच कर जाती है। यही दशा अन्य भावनाओ के सम्बन्ध मे भी है। इस प्रकार काम, क्रोध आदि समस्त वासना व भावनाये एक साथ, एक ही समय मे, किसी भी व्यक्ति मे नही देखी जाती है। यह अवश्य है कि मनुष्य मे कोई न कोई, एक या अधिक भावनाये प्रत्येक समय विद्यमान रहती है।

इन भावनाओ की परिणति मे सदैव परिवर्तन होता रहता है। कोई भी भावना स्थिर नही रहती है। यदि कोई मनुष्य एक समय क्रोधित होता है, तो कुछ देर पश्चात् उसका क्रोध शान्त हो जाता है। उसके हृदय मे पश्चात्ताप, आत्मग्लानि आदि के भाव उत्पन्न हो जाते है। इन **परिवर्तनशील भावनाओं** को आत्मा का **स्वरूप या स्वभाव नहीं कहा जा सकता**। स्वभाव वस्तु का वह गुण है, **जो उस वस्तु में सदैव विद्यमान रहे**, किसी न किसी अश मे अवश्य पाया जावे, उस (वस्तु) से किसी अवस्था मे भी पृथक न हो। इसलिये इन परिवर्त्तनशील भावनाओ को आत्मा का विभाव (आत्मा के स्वरूप का विकृत रूप) मानना होगा। इस दशा मे यह प्रश्न स्वभाविक ही उठता है कि आत्मा का वह क्या स्वरूप है, जो काम, क्रोध आदि अनेक प्रकार के विभावों द्वारा प्रदर्शित हो रहा है।

इन काम, क्रोध आदि भावनाओ के अन्तर्गत दुख या सुख की भावना

पाई जाती है। इसे समझने के लिये एक उदाहरण लेना उचित होगा। एक व्यक्ति के पास एक सुन्दर चित्र है, जो उसको अत्यन्त प्रिय है। यदि उस चित्र पर कोई दूसरा व्यक्ति मुग्ध होकर, उसकी प्राप्ति के लिये उद्यत हो, तो कठिन समस्या उपस्थित हो जाती है। प्रथम व्यक्ति सशक रहकर उसकी रक्षा करता है। यदि दूसरा व्यक्ति उसे बलपूर्वक अपने अधिकार में करने का प्रयत्न करे, तो प्रथम व्यक्ति—यदि वह सबल है—क्रोध में भर कर दूसरे व्यक्ति को मारने के लिये तत्पर हो जाता है। परन्तु यदि वह निर्बल है, तो दूसरे व्यक्ति से डर कर कापने लगता है, उसकी खुशामद करता है, जिससे वह प्रसन्न होकर चित्र को न छीने। जिस चित्र पर प्रथम व्यक्ति मुग्ध है, यदि वह दूसरे व्यक्ति के अधिकार मे है, तो उसके प्राप्त करने के लिये, वह व्यक्ति अनेक प्रकार के प्रपच रचता है, चुराने, बलपूर्वक छीनने आदि के अनेक उपाय प्रयोग मे लाने के लिये उद्यत होता है। सशकित होकर रक्षा आदि उपरोक्त समस्त वृत्तियो के अन्तर्गत व्याकुलता के भाव विद्यमान है। यह व्याकुलता प्रिय चित्र के वियोग की आशका या प्राप्ति की उत्कट इच्छा से उत्पन्न हुई है। यह व्याकुलता दुख रूप है। इस भाति उपरोक्त समस्त भावना व कुवृत्तियो के अन्तर्गत दुख की भावना विद्यमान है। यदि उस प्रिय चित्र की रक्षा या प्राप्ति मे अन्य तीसरा व्यक्ति, प्रथम व्यक्ति की सहायता करे, तो उसके हृदय मे तीसरे व्यक्ति के प्रति प्रेम व मित्रता के भाव उत्पन्न होते है। इन प्रेम व मित्रता के भावो के अन्तर्गत प्रसन्नता का भाव विद्यमान है।

इसी प्रकार किसी मनुष्य को अपने यश की बात सुनकर प्रसन्नता होती है, जो कोई व्यक्ति उसकी यश वृद्धि मे सहायता करता है, उससे प्रेम करने लगता है क्योकि उस व्यक्ति ने उसके सुख के कारण यश वृद्धि मे सहायता की। यदि दूसरा व्यक्ति उसके यश मे बाधा डाले या अपयश फैलावे, तो वह उस व्यक्ति से द्वेष करने लगता है क्योकि उसने सुख देने वाले यश में विघ्न डालकर दुख पहुचाया। इस प्रकार इन समस्त राग

द्वेष आदि भावना एव वृत्तियो के अन्तर्गत व्याकुलता या प्रसन्नता की भावना पाई जाती है। यह व्याकुलता या प्रसन्नता की भावना दुख या सुख की भावना के रूपान्तर ही है। इस प्रकार काम क्रोध, दया, प्रेम आदि समस्त भावनाये दुख या सुख की भावना से रजित पाई जाती है।

सुख व दुख की भावनाये परस्पर विरोधी है। जब मनुष्य सुख अनुभव करता है, उस समय दुख की भावना प्रतीत नही होती। इसी प्रकार जब मनुष्य की परिणति दुख रूप होती है, उस समय सुख की भावना विलुप्त हो जाती है। इन दोनो भावनाओ मे से केवल एक ही भावना (सुख या दुख की) किसी एक समय मे पाई जाती है। परस्पर विरोधी होने के कारण, सुख व दुख की दोनो भावनाये आत्मा के स्वभाव रूप नही हो सकती। इन दोनो भावनाओ मे से एक ही भावना आत्मा का स्वरूप हो सकती है।

प्रत्येक जीव मे सुख की कामना पाई जाती है, सुख प्राप्ति के लिये ही उसका प्रत्येक कार्य होता है। कोई भी व्यक्ति किसी भी दशा मे दुख को नही चाहता, प्रत्युत दुख से बचने के लिये सदैव प्रयत्न करता है। सुख की कामना एवं दुख से बचने की भावना यही बतलाती है कि सुख आत्म स्वरूप के अनुकूल है और दुख प्रतिकूल। सुख की आत्म-स्वरूप के साथ अनुकूलता होने से यही परिणाम निकलता है कि सुख आत्मा का स्वरूप है, दुख उस (आत्मा) का स्वरूप नही है।

इसके अतिरिक्त जब मनुष्य आनन्द मे मग्न होता है, उसकी आत्मा प्रफुल्लित हो उठती है, जीवनशक्ति वेग से बहने लगती है, समस्त आत्मिक शक्तियाँ विकसित हो जाती है। आत्मिक शक्तियो के स्फुरित होने से शरीर की आकृति मे भी परिवर्तन हो जाता है, मुख मे चेतनता व सजीवता टपकने लगती है, शरीर रोमाचित हो जाता है। इसके विपरीत मनुष्य के दुखित होने पर उसकी आत्मा सकुचित हो जाती है, आत्मिक शक्तिया शिथिल पड जाती है, शरीर पर उदासीनता छा जाती है, जड़ता

के लक्षण दिखलाई पडने लगते है। दुखित मनुष्य के इन लक्षणों से स्पष्ट है कि दुख की भावना आत्मा को चेतनता के विरुद्ध जडता की ओर ले जाती है। यह जडता भौतिक पदार्थ का गुण है और आत्मा के ज्ञान स्वरूप का घातक है, इसलिये दुख की भावना आत्मा का स्वरूप कदापि नही हो सकती। आनन्द की भावना का—जिसके होने से आत्मा प्रफुल्लित, आत्मिक शक्तिया विकसित होती है—आत्म स्वरूप के साथ आत्मीयता है। आत्म स्वभाव के साथ आनन्द की आत्मीयता से स्पष्ट है कि आनन्द आत्मा का स्वभाव ही है।

आनन्द भावना के स्वरूप को एक अन्य दृष्टि से विचारने पर भी यही निष्कर्ष निकलता है। प्रत्येक मनुष्य सुख की कामना एव उसकी प्राप्ति के लिये प्रयत्न करता है। भिन्न-भिन्न अवस्थाओ मे, भिन्न-भिन्न वस्तुओ मे सुख अनुभव करता है। उसके सुख का केन्द्र कभी एक वस्तु बनती है और कभी दूसरी। आनन्द का स्वरूप समझने के लिये मानव जीवन की भिन्न-भिन्न अवस्थाओ की परीक्षा करना अनुचित न होगा।

शैशव काल मे शिशु, माता की गोदी मे लेटा, स्तन चूसता हुआ आनन्द मे मग्न होता है। उसे किसी प्रकार की चिन्ता नही होती। माता के स्तनो से कल्लोल करता हुआ, असीम आनन्द का अनुभव करता है। कुछ समय पश्चात् वह शिशु बालक अवस्था को प्राप्त होता है। बाल्य अवस्था मे आते ही, उसके आनन्द का केन्द्र माता की गोदी व स्तनो से हटकर खिलौनो मे जा पहुचता है। अनेक प्रकार के खिलौने मे उसको आनन्द आता है, समवयस्क बालको के साथ खेलने मे मुग्ध हो जाता है, उसको न भोजन की सुध रहती है और न किसी अन्य वस्तु की।

क्रमश. बालक बडा होता है। विद्यार्थी जीवन मे पैर रखता है। पाठशाला मे प्रवेश करता है। अन्य साथी छात्रो से पढने मे होड लगाता है। परीक्षा मे अच्छे अको से उत्तीर्ण होने पर पारितोषिक पाकर ऐसा

प्रसन्न होता है कि मानो उसको कुबेर की निधि मिल गई है। बडे होने पर उसको पुस्तको के अध्ययन मे आनन्द आने लगता है। छात्र जीवन में प्रवेश करने पर उस बालक के आनन्द का केन्द्र खेलों से बदल कर पुस्तक मे स्थिर हो जाता है। शिक्षा समाप्त करने पर उसको व्यवसाय की चिन्ता होती है, सर्कारी नौकरी की तलाश मे घूमता है। विविध प्रकार के पेशो को अपनाने का विचार करता है। छात्र जीवन से नागरिक जीवन मे पदार्पण करते ही उसके आनन्द का क्षेत्र पुस्तको से हटकर व्यवसाय की सफलता बन जाता है। अति लाभप्रद व्यवसाय में स्थिर होकर प्रसन्न होता है। स्वय उपार्जित धन देखकर मुग्ध हो जाता है।

व्यवसाय मे स्थिर होते ही, उसका ध्यान गृह की ओर आकर्षित होता है। गृह, गृहिणी बिना, शून्य प्रतीत होता है। उसका हृदय किसी सुन्दर युवती से मिलने के लिये लालायित हो उठता है। माता पिता योग्य वधू खोज कर धूम धाम से उसका विवाह करते है। नववधू के साथ आमोद प्रमोद मे मग्न रह कर सुख का अनुभव करता है। इस प्रकार उस व्यक्ति का आनन्द केन्द्र व्यवसाय की सफलता से हट कर नववधू मे केन्द्रित हो जाता है। कुछ दिनो तक नव वधू के सहवास व सम्पर्क मे रहने के पश्चात्, उसको अपना गृह, शिशु के बिना शून्य मालूम होता है। मन ही मन मे ईश्वर व अन्य इष्ट देवताओ से पुत्र प्राप्ति के लिये प्रार्थना करता है। युवती के गर्भवती होने पर, वह पुत्र के जन्म दिवस की बडी उत्सुकता से प्रतीक्षा करता है। पुत्र उत्पन्न होते ही आनन्द मे फूला नही समाता है। प्रेम से आतुर होकर शिशु का मुख चुम्बन करता हुआ, स्वर्गीय आनन्द का अनुभव करता है। इस प्रकार नवविवाहिता युवती से हट कर उसके सुख का केन्द्र शिशु बन जाता है।

कुछ समय के पश्चात् उसके आनन्द का केन्द्र फिर बदलता है। गृह, स्त्री, पुत्र, धन आदि वस्तुओ मे पहिला सा आनन्द नही आता है। अब उसका हृदय समाज मे उच्च पद प्राप्त करने के लिये लालायित हो

उठता है। उसको प्रतीत होता है कि सुख उच्च पद प्राप्त करने मे ही है। उच्च पद प्राप्त करने की इच्छा से सभा सोसाइटी मे सम्मिलित होता है, म्यूनिसपल बोर्ड, कौसिल आदि की मेम्बरी के लिये खड़ा होता है, कलक्टर कमिश्नर से मिलता है, डाली देता है। कौसिल आदि का मेम्बर बनकर, सर्कार द्वारा रायबहादुरी आदि का पद प्राप्त करके, फूला नही समाता है। अपने को साधारण जनता से ऊचा समझ कर मन ही मन मे प्रसन्न होता है। कितने ही समय तक यश की वृद्धि करने वाली मेम्बरी, सर्कारी पद आदि के चक्कर में पड़ा रहता है, वृद्ध होने पर मृत्यु का दृश्य नेत्रो के सामने आने लगता है, अब उसका हृदय सांसारिक किसी पदार्थ मे नही लगता है, भविष्य की चिन्ता आकर घेरने लगती है।

उपरोक्त अवस्थाओ पर दृष्टि डालने से प्रतीत होता है कि उस व्यक्ति के सुख का केन्द्र सदैव बदलता रहता है। शैशव काल मे माता की गोदी मे, बाल्य अवस्था मे खिलौने मे, छात्र अवस्था मे पुस्तको मे, यौवन अवस्था मे धन सचय व पत्नी के सहवास मे, गृहस्थ अवस्था मे पुत्र उत्पत्ति व यश प्राप्ति मे रहता है। इस प्रकार उस व्यक्ति के सुख का केन्द्र कभी एक वस्तु मे, कभी दूसरी वस्तु मे बदलता रहता है। इस विवरण से स्पष्ट है कि सुख न माता की गोदी मे है, न खेल खिलौनो मे और न ही अन्य वस्तुओ मे। ये समस्त पदार्थ भौतिक है स्वय सुख व आनन्द से रहित है, फिर कैसे दूसरो को सुख दे सकते है। यह सुख की भावना तो स्वय मनुष्य मे विद्यमान है। वह भ्रम से, सुख कभी माता की गोदी मे मानता है, कभी खेल खिलौनों मे और कभी अन्य वस्तुओ मे।

मनुष्य भ्रम व मोह बुद्धि से कभी एक वस्तु को सुखदायी समझता है और फिर उसी वस्तु को दुखदायक मानने लगता है कभी एक ही वस्तु को एक ही समय मे दुखद और दूसरे समय मे सुखद अनुभव करता है। सन् १९२० से पहिले भारत के नागरिक विदेशी, बारीक, चटकीले भड़कीले वस्त्रो पर मोहित थे, स्वदेशी वस्त्र एव खद्दर को घृणा की दृष्टि से

देखते थे। शिक्षित महिलाये चर्खा चलाने को जंगली व गवारपन समझती थी। महात्मा गाधी के भारतीय राजनैतिक क्षेत्र में अवतीर्ण होते ही भारत की उच्च सभ्य कोटि की जनता खद्दर को आदर की दृष्टि से देखने लगी; विदेशी सुन्दर बारीक वस्त्रो को केवल अपने शरीर से उतार कर ही नही फेक दिया वरन् उनको अग्नि मे भस्म कर डाला। कुलीन शिक्षित महिलाये चर्खा चलाने मे अहोभाग्य समझने लगी। यह सब भेद मनुष्य की दृष्टिकोण का है। सुख न बारीक विदेशी वस्त्र मे है और न स्वदेशी खद्दर मे। यह सुख आनन्द तो स्वय मनुष्य की आत्मा मे है।

यह हृदय मे भलीभाति अकित हो जाने पर कि आनन्द वाह्य किसी वस्तु मे नही है, यह (आनन्द) तो स्वयं उसकी अन्तर्स्थित आत्मा मे विद्यमान है, उस व्यक्ति का दृष्टिकोण बिल्कुल बदल जाता है। उसको सासारिक पदार्थो मे सुख या दुख प्रतीत नही होता है, मोह क्षीण हो जाता है, भ्रम बुद्धि नष्ट हो जाती है, वाह्य पदार्थों को सम भाव से देखने लगता है, स्थितप्रज्ञ की अवस्था को प्राप्त हो जाता है। पहिले बात-बात में उसको क्रोध आता था। अपने को उच्च समझ कर दूसरो का तिरस्कार करता था। दूसरे व्यक्तियो की धन सम्पदा एव ऐश्वर्य देखकर उसके हृदय मे ईर्षा का भाव उत्पन्न होता था। सुन्दर रमणियों के अवलोकन से काम तृष्णा जागृत हो उठती थी। व्यापार मे प्रतियोगिता होने के कारण, अन्य व्यापारियो के प्रति, द्वेषाग्नि भडक उठती थी। इस भाति अनेक प्रकार की कुवृत्तियां लगातार अपना कार्य करती रहती थी। दृष्टिकोण मे परिवर्तन हो जाने पर साम्य भाव का साम्राज्य स्थापित हो जाता है, कुवृत्तियां नष्ट हो जाती है, उनके स्थान पर दया, क्षमा, नम्रता, प्रेम आदि शुभ प्रवृत्तिया उत्पन्न हो जाती है। दुखित जीवो के दुख दूर करने मे उसको आनन्द आने लगता है। उसे प्राणी मात्र से प्रेम हो जाता है। प्रेम का प्रवाह चारो ओर वेग से बहने लगता है। उसका गृह प्रेम-कुटी बन जाता है।

ज्यों-ज्यो उसकी कुवृत्तिया नष्ट होती जाती है और उनके स्थान पर शुभ भावनाये व वृत्तिया अपना आधिपत्य स्थापित करती जाती है, त्यों-त्यो वह व्यक्ति अधिकाधिक आनन्द अनुभव करता है। जब वह व्यक्ति समाधि लगाकर अपने ज्ञान व आनन्द स्वरूप मे मग्न होता है, उस समय वह अनुपम अलौकिक आनन्द का रसास्वादन करता है, उसकी आत्मिक जीवन शक्ति का वेग के साथ सचार होता है। अन्त मे एक ऐसी अनुपम अवस्था को प्राप्त होता है, जो दिव्य ज्ञान से आलोकित व दिव्य आनन्द से ओतप्रोत है। उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आनन्द आत्मा का स्वरूप है और आत्मा का यह आनन्द स्वरूप कुछ अज्ञात कारणो से कलुषित व विकृत होकर आत्मा मे सुख की कामना के रूप मे प्रदर्शित होता है और यह सुख की कामना काम क्रोध आदि अनेक प्रकार के विभावों से रजित हुई दिखलाई देती है।

(३) अनन्त शक्ति

मनुष्य के स्वरूप का विवेचन करते हुए निश्चित किया जा चुका है कि मनुष्य के भीतर सकल्प शक्ति है। यह संकल्प शक्ति मनुष्य के भीतर लाइनमैन के सदृश कार्य करती रहती है। जैसे लाइनमैन के बटन दबाते ही, विद्युत वेग मे तार पर दौडने लगती है, मशीने जो अब तक बन्द पडी थी, चलने लगती है, अनेक प्रकार का सामान तय्यार होने लगता है, विद्युत का प्रकाश चारो ओर फैल जाता है एव चतुर्दिक फैले हुए अन्धकार का नाश हो जाता है। यही कार्य मनुष्य के अन्तर्गत सकल्प शक्ति का है। इस शक्ति के कर्मशील होने पर मनुष्य मे जीवन का सचार होता है, उसकी ज्ञान व कर्मेन्द्रियां कर्म जगत मे उद्यमशील होती है, उसके हस्त पाद आदि अग एव समस्त शरीर संकल्प के अनुसार कार्य करने लगते है। इसी शक्ति के कारण मनुष्य अनेक वस्तुओं का भोग व उपभोग, ग्रहण या त्याग करता है। इस सकल्प शक्ति के

अकर्मण्य होने पर नेत्र आदि ज्ञानेन्द्रिया अपना व्यापार कार्य बन्द कर देती है, हस्तपाद आदि कर्मेन्द्रियां शिथिल होकर मृतवत हो जाती है एव मनुष्य निर्जीव सा प्रतीत होने लगता है। इस सकल्प शक्ति के पुनः जागृत होने पर मनुष्य अनेक प्रकार के कार्य फिर करने लगता है। ससार मे जितने महान पुरुष हुए है, उनमे यह संकल्प शक्ति अधिक मात्रा मे पाई जाती है। इस शक्ति के अधिक दृढ होने पर, मनुष्य अनेक आपत्ति व बाधाओ को जीत कर, महान पद को प्राप्त होता है।

इस सकल्प शक्ति के साथ-साथ मनुष्य मे अन्य प्रकार की शक्तिया भी प्रतीत होती है। मनुष्य मे साहस व पौरुष है, जिसके कारण ही मनुष्य पुरुष कहलाता है और अनेक प्रकार के कठिन से कठिन कार्य कर डालता है। जिस मनुष्य में साहस व पौरुष की कमी है, वह मनुष्य नही वरन् नपुसक है, मट्टी के सदृश मृत है। इस साहस व पौरुष के बल पर ही मनुष्य दिग्विजयी होता है, ससार मे अनेक प्रकार के महान कार्य करता है। सकल्प शक्ति व साहस के अत्यन्त दृढ होने पर, मनुष्य काम, क्रोध आदि अशुभ भावना, कुवृत्ति एव इन्द्रियों को दमन करके, जितेन्द्रिय बन सर्वज्ञ व परमानन्द अवस्था को प्राप्त कर सकता है। इससे ज्ञात होता है कि आत्मा मे अनेक प्रकार की शक्तिया विद्यमान है।

जिस प्रकार सतत प्रयत्न करने पर ज्ञान का पूर्ण विकास व परमानन्द अवस्था की प्राप्ति होती है, उसी प्रकार सतत प्रयत्न करने पर मनुष्य के अन्तर्गत शक्ति का भी पूर्ण विकास हो सकता है। इसलिये आत्मा को अनन्त शक्ति युक्त भी मानना होगा।

(४) आत्मा सच्चिदानन्द है

उपरोक्त अनुसन्धान से यह निष्कर्ष निकलता है कि यह आत्मा स्वभाव रूप से ज्ञाता, दृष्टा, आनन्दमयी एव अनन्त शक्ति युक्त है।

दूसरे शब्दों में इस आत्मा के स्वभाव को सच्चिदानन्द स्वरूप कह सकते हैं[1]। कुछ कारणों से (जिनका अनुसन्धान आगे किया जावेगा) आत्मा का यह अनन्त ज्ञान, दर्शन, आनन्द व वीर्य स्वरूप आवृत हो रहा है।

---

[1] 'सच्चिदानन्द' शब्द सत्+चित्+आनन्द तीन शब्दों से मिलकर बना है। सत् का अर्थ सत्ता या अस्तित्व है। सत्ता आत्मा की वीर्य-शक्ति का द्योतक है चित् का अर्थ चैतन्य है, जिसमें आत्मा का ज्ञान दर्शन स्वरूप निहित है। इस प्रकार सच्चिदानन्द शब्द से आत्मा के पूर्ण स्वरूप का बोध होता है।

६—आत्मा का निवास स्थान

(१) तात्विक विवेचन

आत्मा का स्वरूप निर्णय हो जाने के पश्चात् यह जानने की अभिलाषा होती है कि आत्मा शरीर के किस भाग विशेष मे रहता है ? आत्मा का क्या आकार है ? इस सम्बन्ध मे निम्नलिखित तीन प्रकार के विचार हो सकते है :—

(१) आत्मा एक अखड अमूर्तिक पदार्थ है, जो शरीर के हृदय, मस्तिष्क आदि किसी भाग विशेष मे स्थित है और उसका आकार उस स्थान विशेष के आकार जैसा है या उस भाग विशेष से भी छोटा केवल अणु मात्र है, जहा स्थिर रहकर यह आत्मा सम्पूर्ण शरीर पर अपना आधिपत्य रखता है एवं उससे अनेक प्रकार के कार्य लेता है।

(२) आत्मा एक अखड अमूर्त्तिक पदार्थ है, जो मनुष्य के सम्पूर्ण शरीर मे व्याप्त हो रहा है। इस आत्मा का आकार शरीर के आकार जैसा है। जैसे मनुष्य का शरीर बाल्य अवस्था से लगाकर यौवन अवस्था पर्यन्त वृद्धि करता जाता है, उसी प्रकार शरीर के अन्दर व्याप्त आत्मा भी विस्तरित होता जाता है और जैसे-जैसे यौवन अवस्था के पश्चात् शरीर के शिथिल होने के कारण शरीर सकुचित होता जाता है, उसी प्रकार शरीर के अन्दर व्याप्त आत्मा भी सकुचित होता जाता है।

(३) आत्मा एक अखड अमूर्त्तिक पदार्थ है, जो मनुष्य के सम्पूर्ण शरीर मे व्याप्त हो रहा है और शरीर के बाहर भी व्याप्त है। शरीर से बाहर ? तो क्या यह आत्मा थोडी दूर तक फैला हुआ है या फैलकर समस्त ब्रह्माड मे व्याप्त है।

आत्मा के रहने का स्थान विशेष जानने के लिये मनुष्य के कार्यों को ध्यानपूर्वक देखना एव अन्वीक्षण करना होगा। जब कोई व्यक्ति अपने किसी प्रिय जन की मृत्यु, सम्पत्ति विनाश आदि किसी दुखद घटना का समाचार सुनता है, उस समय उस व्यक्ति को अत्यन्त मानसिक कष्ट पहुचता है, जिसके कारण उसका मुख उदास हो जाता है, शरीर का लावण्य व तेज नष्ट हो जाता है, अगो मे शिथिलता आ जाती है शरीर पीला पड जाता है। वह व्यक्ति ऐसा दिखलाई देने लगता है कि जैसे कई मास से रोग से पीडित हो। मानसिक दुख होने मे, उसकी आत्मिक शक्तिया भी शिथिल पड जाती है, किसी भी कार्य करने के लिये उसका मन उत्साहित नही होता, उसकी दशा जडवत हो जाती है। उस व्यक्ति के दुखित होने का प्रभाव उसकी समस्त आत्मिक शक्ति, मानसिक चेष्टा एव शरीर के सम्पूर्ण अगो पर पडता है।

इसी प्रकार जब कोई व्यक्ति पुत्र जन्म, विपुल धन-प्राप्ति आदि कोई सुखद समाचार सुनता है, उस समय वह अत्यन्त हर्षित होता है, उसका मुखमडल प्रफुल्लित हो उठता है, शरीर रोमाचित हो जाता है, हृदय मे उत्साह बढ जाता है। आत्मिक शक्तिया विकसित हो जाती है, समस्त वायुमडल उसको आनन्दमय प्रतीत होने लगता है। इस भाति उस व्यक्ति के आनन्दित होने का प्रभाव उसके सम्पूर्ण शरीर के अगो पर पडता है।

इस प्रकार सुख या दुख देने वाले कार्य का प्रभाव आत्मा की प्रत्येक शक्ति, मानसिक चेष्टा एव शरीर के प्रत्येक भाग पर पडता है। ऐसा प्रतीत नही होता कि इन कार्यों का प्रभाव केवल मस्तिष्क, हृदय या अन्य किसी निश्चित स्थान पर ही पडता हो और अन्य स्थान प्रभावित न होते हों। इस घटना से—शरीर का प्रत्येक भाग प्रभावित होता है—प्रगट होता है कि आत्मा शरीर के प्रत्येक भाग मे विद्यमान है। सुखद या दुखद घटना का प्रभाव मस्तिष्क द्वारा आत्मा पर पडता है, जिससे

शरीर के समस्त अग प्रभावित होते है । शरीर रोमाचित, मुख प्रफुल्लित, हृदय उत्साहित, आत्मिक शक्तिया विकसित या शरीर कान्तिहीन, मुख मलीन, हृदय निरुत्साहित, आत्मिक शक्तिया सकुचित होती है ।

शरीर मे पीडा होने के अनुभव से भी इसी परिणाम पर पहुचा जाता है कि आत्मा सम्पूर्ण शरीर मे व्याप्त है । जब किसी व्यक्ति के किसी अग मे पीडा होती है, फोडे के पकने, बिच्छू आदि किसी विषैले जन्तु के काटने, शस्त्र आघात होने, हड्डी आदि टूटने की तीव्र वेदना होती है, तत्काल ही उसको उस पीडा के कष्ट का अनुभव होने लगता है, उससे व्याकुल हो उठता है । यदि किसी दूसरे व्यक्ति के शरीर मे पीडा होती हो और उससे व्यथित होकर रुदन भी करता हो, तो उस पीडा का ज्ञान होने पर भी उसका विशेष प्रभाव प्रथम व्यक्ति पर नही पडता है । यदि दूसरा व्यक्ति पुत्र आदि प्रिय जन है, तो उसकी वेदना का ज्ञान होने से प्रथम व्यक्ति के हृदय मे दुख अवश्य होता है । परन्तु यह दुख उस कष्ट के अनुभव से जो अपने शरीर मे पीडा होने से होता है, सर्वथा भिन्न प्रकार का है । अपने शरीर मे पीडा होने से एक प्रकार के दु ख की सनसनी पीडा के स्थान विशेष पर होती है । कभी कभी यह पीडा निकटवर्त्ती अन्य अग और कभी कभी सम्पूर्ण शरीर मे होने लगती है । यह जानना भी कठिन हो जाता है कि शरीर के किस स्थान विशेष पर यह पीडा हो रही है ।[1] जब अन्य समीपवर्त्ती प्रिय व्यक्ति के शरीर मे पीडा होने की सूचना प्रथम व्यक्ति को मिलती है, उस समय उस दुखद समाचार से उसके (प्रथम व्यक्ति के) हृदय मे मानसिक कष्ट अवश्य होता है, परन्तु उस प्रिय व्यक्ति के दुख की सनसनी का कुछ भी अनुभव उसको नही होता है । शरीर के किसी भी भाग मे पीड़ा होने से दुख की सनसनी का विशेष प्रकार का अनुभव बतलाता है कि उस पीड़ित भाग मे आत्मा

---

[1] इस प्रकार के अनुभव से प्रायः प्रत्येक व्यक्ति परिचित है ।

विद्यमान है। यह अनुभव शरीर के प्रत्येक भाग मे होता है, इसलिये कहना पडता है कि आत्मा शरीर के प्रत्येक भाग मे विद्यमान है।

यदि यह कहा जावे कि शरीर के उस पीडित स्थान मे आत्मा का अस्तित्व नही है, आत्मा हृदय, मस्तिष्क या अन्य किसी स्थान विशेष पर स्थित है, पीडा का ज्ञान शरीर के उस भाग मे विद्यमान सूक्ष्म तन्तुओ द्वारा मस्तिष्क तक पहुचता है और वहां से यह ज्ञान अन्य सूक्ष्म तन्तुओ द्वारा हृदय आदि आत्मा के रहने के स्थान विशेष तक पहुच जाता है, जिससे आत्मा को दुख का भान होता है, आत्मा के दुखित होने से, शरीर सकुचित व उदासीन हो जाता है। ऐसी दशा मे अपने शरीर मे उत्पन्न पीडा का दुख, उस मानसिक दुख के सदृश होना चाहिये, जो उसको उस समय होता है, जब वह अपने नेत्रो के सामने अपने प्रिय पुत्र के शरीर मे शस्त्र के आघात से गहरा घाव देखता है, जिसकी वेदना से पुत्र रुदन करता है। प्रिय पुत्र के शस्त्र के आघात द्वारा जख्म का चित्र एव वेदना से रुदन के शब्द, उस व्यक्ति के मस्तिष्क आदि आत्मा के रहने के स्थान विशेष तक नेत्र, कर्ण आदि इन्द्रिय एव तत्सम्बन्धी सूक्ष्म तन्तुओ द्वारा पहुँच जाते है। ऐसी दशा मे दोनो प्रकार के दुख—अपने शरीर मे उत्पन्न हुई पीडा का दुख व अपने प्रिय पुत्र की पीडा के ज्ञान से उत्पन्न हुआ मानसिक कष्ट—सर्वथा एक दूसरे के समान होने चाहिये। इनमे किसी प्रकार का अन्तर नही हो सकता क्योकि इन दोनो दशाओ मे निर्जीव स्थान की—प्रथम दशा मे अपने निर्जीव शरीर की, दूसरी दशा मे अपने शरीर से पृथक पुत्र शरीर की—पीड़ा का ज्ञान सूक्ष्म तन्तुओ (Nerves) द्वारा आत्मा को होता है।

अनुभव बतलाता है कि इन दोनो दशाओ का दुख एकसा नही है। प्रथम दशा मे अपने शरीर मे पीड़ा होने से दुख की सनसनी का जो विशेष प्रकार का अनुभव होता है, वह उस मानसिक कष्ट से—जो उसको दूसरी दशा मे अपने प्रिय पुत्र की पीडा के ज्ञान से होता है—सर्वथा भिन्न है।

अपने शरीर के किसी भी भाग मे पीड़ा होने से उत्पन्न हुए विशेष प्रकार के दुख की सनसनी के अनुभव से स्पष्ट है कि शरीर के उस भाग में आत्मा विद्यमान है। शरीर के किसी भी भाग मे पीडा होने से इसी विशेष प्रकार के दुख की सनसनी होती है, इसलिये यह मानना पडता है कि सम्पूर्ण शरीर मे आत्मा व्याप्त है। इस अनुसन्धान से प्रगट है कि आत्मा शरीर के मस्तिष्क, हृदय या किसी अन्य विशेष स्थान के अन्दर निहित नही, वरन् सम्पूर्ण शरीर मे व्याप्त है।

किसी व्यक्ति को अन्य प्रिय जन के शारीरिक कष्ट से केवल मानसिक कष्ट होता है। यह मानसिक कष्ट उसी श्रेणी का कष्ट है, जो कि उस व्यक्ति को अकस्मात् अखिल धन सम्पत्ति के विनाश या किसी अन्य बडी हानि से होता है। प्रिय जन की पीडा, धन सम्पत्ति विनाश आदि से उस व्यक्ति को मानसिक कष्ट इस कारण होता है कि उसको उनसे मोह है, उनको अपना समझता है। यदि उन पदार्थों मे ममत्व न हो, उनको अपना न समझता हो, तो इन बातो से तनिक भी मानसिक कष्ट उसको न होगा, जैसा कि किसी अपरिचित मनुष्य की पीडा, धन सम्पत्ति विनाश आदि से किसी व्यक्ति को भी कष्ट नही होता है। इस विवेचन से स्पष्ट है कि मानसिक कष्ट का होना उस व्यक्ति की भावनाओ पर निर्भर है। भावनाओ का अस्तित्व भौतिक पदार्थों के अस्तित्व के सदृश नही है। ये भावनाये केवल काल्पनिक है। इस घटना से—एक व्यक्ति को दूसरे अपरिचित मनुष्य की शारीरिक पीडा से किसी प्रकार का दुख नही होता है—प्रगट है कि प्रथम व्यक्ति की आत्मा दूसरे मनुष्य के पीडित स्थान मे विद्यमान नही है। इससे सिद्ध होता है कि किसी व्यक्ति की आत्मा उसके शरीर से बाहर व्याप्त नही है।

इस अनुसन्धान से यह निष्कर्ष निकलता है कि आत्मा एक अखंड अमूर्त्तिक पदार्थ है, जो न मनुष्य शरीर से बाहर व्याप्त है और न शरीर के किसी विशेष भाग मे केन्द्रित है। यह आत्मा मनुष्य के सम्पूर्ण शरीर

मे व्याप्त है, उसका आकार भी मनुष्य शरीर के आकार मात्र है। जैसे शरीर की आकृति मे बाल्य अवस्था से यौवन अवस्था पर्यन्त वृद्धि और यौवन अवस्था से मृत्यु पर्यन्त सकोच होता रहता है, उसी प्रकार शरीर मे व्याप्त आत्मा भी शरीर की वृद्धि के साथ-साथ विस्तरित एव शरीर के संकोच के साथ, सकुचित होता रहता है।

(२) वैज्ञानिकों के मत

आत्मा के आकार व रहने के स्थान विशेष के सम्बन्ध मे मनोवैज्ञानिकों ने कितने ही अनुसन्धान किये है, जिनमे से श्री मेहर (Maher) की सम्मति उद्धृत की जाती है। श्री मेहर अपनी मनोविज्ञान सम्बन्धी पुस्तक मे लिखते है :—

"There has been much discussion among philosophers, ancient and modern, regarding the precise part of the body to be assigned as the 'Seat of the Soul'. Some located it in the heart, others in the head, others in various portions of the brain.. ..The hopeless conflicting state of opinion on the question would seem, to be due to the erroneous, but widely prevalent view that the simplicity of the Essence or Substance possessed by the soul is a spacial simplicity, akin to that of a mathematical point. As a consequence, fruitless efforts have continually been made to discover some general nerve centre, some focus from which lines of communication radiate to all districts of the body. The indivisibility, however of the soul, just as

that of intelligence and volition, does not consist in the minuteness of the point. The soul is an immaterial energy....In scholastic phraseology it was described as present throughout the body, which it enlivens, not circumscriptive but definitive ....The soul is present, though in a non-quantitative manner, throughout the whole body; moreover it is so present everywhere in the entirety of its essence.....In so far, as the material subject, by the limits of which, vital activity, in general, is defined and conditioned, increases or diminishes, the soul may be said, in figurative language, to experience virtual increase or diminution—an expansion or contraction—in the sphere and range of its forces, but there is no real quantitative increase in the substance of the soul itself."

जिसका अनुवाद हिन्दी भाषा मे निम्न प्रकार होता है :—

"प्राचीन व वर्तमान काल के दार्शनिको मे इस विषय पर बड़ा वाद-विवाद रहा है कि शरीर के किस भाग मे आत्मा स्थित है। कुछ दार्शनिकों ने आत्मा के रहने का स्थान हृदय समझा था, कुछ ने मस्तक, कुछ ने मस्तिष्क के विभिन्न भाग.....इस विषय मे घोर मत भेद का कारण यह प्रतीत होता है कि अधिकतर विद्वानों ने, भ्रम से, यह समझ लिया था कि आत्म तत्व की सरलता इस बात मे है कि वह आकार मे भी सूक्ष्म, गणित के विन्दु सदृश हो। इसका फल यह हुआ कि सतत निष्फल प्रयत्न इस बात के लिये किये गये कि शरीर के अन्दर ऐसे किसी केन्द्रीय स्थान का पता लगाया जावे, जिससे शरीर के भिन्न-भिन्न भाग,

सूक्ष्म तन्तुओ द्वारा, सम्बन्धित हो। आत्मा की अखडता, ज्ञान व संकल्प शक्ति की अखडता के सदृश, आकार की सूक्ष्मता मे नही है। आत्मा एक अभौतिक शक्ति है विद्वानों के शब्दो मे कहा जाता है कि आत्मा, जिससे शरीर मे स्फूर्ति आती है, सम्पूर्ण शरीर मे व्याप्त है। यह शरीर को आवृत किये हुए नही है वरन् शरीर मे सीमित है . . . . आत्मा सम्पूर्ण शरीर मे व्याप्त है, परन्तु गुरुत्व की दृष्टि से नही। शरीर के प्रत्येक भाग मे, पूर्ण शक्ति को धारण किये हुए, यह आत्मा विद्यमान है. . . . . यदि शरीर—जिसमे मनुष्य की शक्तियो का प्रयोग सीमित है—वृद्धि या ह्रास होता है, तो अलकारिक भाषा मे कहा जा सकता है कि आत्मा मे वृद्धि या ह्रास—उसके आकार व कार्यक्षेत्र मे विस्तार या सकोच—होता है। परन्तु वास्तव मे आत्म तत्व की मात्रा मे, गुरुत्व की दृष्टि से, कोई परिवर्तन नही होता।"[1]

---

[1] यह उल्लेखनीय है कि आत्मा के आकार सम्बन्ध में प्राचीन यूनान व रोम वासियों का भी यही मत था कि आत्मा शरीर के आकार मात्र है और शरीर की वृद्धि व संकोच के साथ-साथ आत्मा का आकार भी विस्तरित या संकुचित होता रहता है। श्री जे० डब्ल्यू० ड्रेपर (J. W. Draper) ने अपनी पुस्तक "दी कनफ्लिक्ट बिटवीन रिलीजन एड साइन्स" (The Conflict between Religion and Science) में लिखा है "The Pagan Greeks and Romans believed that the Spirit of man resembles his bodily form, varying its appearance with his variations and growing with his growth." जिसका हिन्दी अनुवाद निम्न प्रकार होता है :—

ईसाई धर्म को न मानने वाले यूनान व रोमवासियों का यह विश्वास था कि मनुष्य की आत्मा का आकार शरीर के आकार मात्र है, शरीर में

शरीर मे व्याप्त आत्मा का कोई उपयुक्त दृष्टान्त इस प्राकृतिक जगत मे दिखलाई नही देता है। इसका कारण यह है कि आत्मा सरल, अदृश्य, अविभाजित, असयुक्त पदार्थ है, जब कि भौतिक पदार्थ संयुक्त, विभाजित एव इन्द्रिय गम्य है। मानव समाज वृद्धि व ह्रास से साधारणत: पदार्थ की मात्रा मे वृद्धि व ह्रास को समझता है। आत्मा के आकार मे वृद्धि या ह्रास से उसकी मात्रा मे कोई अन्तर नहीं पडता है। उससे आशय केवल आकाश मे विस्तरित या संकुचित होने से है।

प्रकाश के दृष्टान्त से आत्मा के विस्तार व सकोच को कुछ-कुछ समझा जा सकता है। जैसे कमरे मे स्थित लैम्प का प्रकाश उस कमरे में फैल कर कमरे के आकार मात्र हो जाता है। यदि वह लैम्प किसी बड़े कमरे मे रख दिया जावे, तो उसका प्रकाश विस्तरित होकर बडे कमरे के आकार मात्र हो जाता है और यदि वही लैम्प किसी छोटे कमरे मे रख दिया जावे, तो उसका प्रकाश सकुचित होकर छोटे कमरे के आकार मात्र रह जाता है। इसी प्रकार आत्मा, जैसे शरीर मे जन्म धारण करता है, उसी के आकार मात्र हो जाता है। यदि शरीर बडा होता है, तो विस्तरित हो जाता है और यदि छोटा होता है, तो सकुचित हो जाता है।

परिवर्तन व वृद्धि होने के साथ-साथ आत्मा के आकार में भी परिवर्तन व वृद्धि होती रहती है।

७—आत्मा का अमरत्व

(१) विज्ञानानुसार

आत्मा का स्वरूप निर्णय किये जाने के पश्चात् यह जानना आवश्यक है कि जीव कहा से आया है ? क्या किसी ने इसको बनाया है ? शारीरिक मृत्यु के पश्चात् क्या आत्मा का विनाश हो जाता है ? क्या यह आत्मा अमर, अविनाशी एव अनन्त है ?

इन प्रश्नो का निर्णय करने के लिये दैनिक घटनाओ का अन्वीक्षण एव परीक्षण करना होगा। इस जगत मे जितने द्रव्य देखे जाते है, उनकी अवस्थाओं मे सदैव परिवर्तन होता रहता है, परन्तु उन द्रव्यों के मूलतत्व का नाश कभी नही होता। स्वर्ण कभी ककण, कभी मुद्रिका, कभी हार, कभी किसी अन्य सुन्दर भूषण के रूप मे दृष्टिगोचर होता है; कभी अशर्फी, सावरन आदि सिक्का बनकर बाजार मे घूमता है; कभी तांबा, लोहा आदि धातु व मृतिका आदि पदार्थों से मिश्रित हुआ भूगर्भ से निकलता है। इस प्रकार स्वर्ण पदार्थ की अवस्था मे सदैव परिवर्तन होता हुआ दिखलाई देता है, परन्तु इन अवस्थाओ मे परिवर्तन होते हुए भी स्वर्ण अपने मूलतत्व स्वर्णत्व को कदापि नही त्यागता है। यही दशा हाइड्रोजन (Hydrogen), आक्सीजन (Oxygen) गैसो की है। जब इन दोनो गैसो का परस्पर सयोग होकर सयुक्त पदार्थ बनता है, उस समय ये जल का रूप धारण कर लेते है। ठड के लगने पर यह जल जमकर बर्फ के रूप मे परिणत हो जाता है। यही जल, अग्नि आदि उष्ण पदार्थ की उष्णता पाकर, वाष्प बन जाता है। यह भाप ठंड पाकर मेघ के रूप मे आकाश मे विचरती हुई दिखलाई देती है। यही जल कारबन (Car-

bon), नाइट्रोजन (Nitrogen) आदि तत्वो के साथ संयुक्त होकर फलो के मधुर रस मे परिवर्तित हो जाता है। ये फल खाये जाने पर मनुष्य के शरीर मे प्रवेश करके रक्त, मज्जा आदि सप्त धातुओ में परिणत हो जाते है, जिनसे शरीर की पुष्टि होती है। इस प्रकार ये हाइड्रोजन, आक्सीजन आदि वायु अनेक रूप धारण करती है एव अनेक वस्तुओं के रूप मे दिखलाई देती है, परन्तु नाना प्रकार के पदार्थों का रूप धारण करते हुए भी ये अपने मूलतत्व के स्वरूप को कदापि नही त्यागती है।

यही दशा जगत के अन्य पदार्थों की है, प्रत्येक पदार्थ की अवस्था में सदैव परिवर्तन होता रहता है, परन्तु किसी पदार्थ के मूलतत्व का विनाश कभी नही होता। पदार्थों की अवस्थाओं मे निरन्तर परिवर्तन तथा उनके मूलतत्वो की ध्रौव्यता देखकर वैज्ञानिको ने निम्नलिखित दो सिद्धान्त[1] स्थिर किये है :—

(१) ससार मे न किसी वस्तु का विनाश होता है. न कोई वस्तु शून्य से उत्पन्न होती है।

(२) यद्यपि द्रव्य की अवस्था मे सदैव परिवर्तन होता रहता है, तो भी उसके मूलतत्व का विनाश कभी नही होता।

आत्मा अखड, सरल, मूलतत्व है, जैसाकि पहिले निश्चित किया जा चुका है। यह मिश्रित या सयुक्त पदार्थ नही है, न यह विभाजित किया जा सकता है। यदि उपरोक्त वैज्ञानिक सिद्धान्त आत्मतत्व पर लगाये

---

[1] ये सिद्धान्त अंग्रेजी भाषा में निम्न प्रकार है :—

(1) Nothing is destructible, nor anything can be created out of nothing.

(2) Though outer forms change, yet substance remains the same.

जावें, तो यह कहना पडता है कि आत्मा न कभी उत्पन्न हुआ है और न कभी उसका विनाश होगा। केवल इसकी अवस्था में परिवर्तन होता रहेगा। दूसरे शब्दो मे यह कहा जा सकता है कि आत्मा अमर, अविनाशी मूलतत्व है, जिसका न आदि है न अन्त।

(२) तात्विक विवेचन

जीव का बनाने वाला कोई नहीं है

वैज्ञानिक सिद्धान्त के अनुसार अन्वीक्षण करने से यही फल निकलता है कि इस आत्मा का बनाने वाला कोई कर्त्ता नही है। यह आत्मा स्वय सिद्ध अनादि काल से है और अनन्त काल तक रहेगा। अन्य प्रकार से अनुसन्धान करने पर भी इसी परिणाम पर पहुचा जाता है कि जीव का कर्ता कोई नही है। यह आत्मा स्वय सिद्ध अनादि अनन्त है।

एक स्त्री के एक साथ दो पुत्र उत्पन्न होते है। वे दोनों बालक एक ही वातावरण मे साथ-साथ रखे जाते है। उनका पालन पोषण एकसा होता है। एकसे ही खेल साथ-साथ खेलते है। माता पिता तथा अन्य मनुष्यो का बर्ताव उनके साथ एकसा होता है। उनको एकसी ही शिक्षा दी जाती है। साराश मे दोनो बालको का पालन पोषण व शिक्षा आदि एकसी परिस्थिति मे होती है। एक ही वातावरण मे रहने व एकसी ही परिस्थिति मे पालन किये जाने पर भी, इन दोनो बालकों के शरीर की बनावट, चाल ढाल, रूप रग, आदि मे अन्तर पाया जाता है, इनके विचार, भावना आदि मानसिक चेष्टाये भी एकसी नही होती। एकसी परिस्थिति मे पालन पोषण एव शिक्षित किये जाने पर भी इन बालको मे अन्तर क्यो ? इस अन्तर का क्या कारण हो सकता है ? वाह्य परिस्थिति एकसी होने से, कोई वाह्य कारण इस अन्तर का दृष्टिगोचर नही होता, इसलिये इस अन्तर का अन्य कोई अदृश्य गुप्त कारण मानना होगा। सूक्ष्म दृष्टि

से विचारने पर इस अन्तर के निम्नलिखित दो अदृश्य कारण हो सकते है :—

(१) इन बालको के व्यक्तित्व को किसी बाह्य अदृश्य शक्ति या व्यक्ति ने बनाया है और उसने बनाते हुए इन बालको के व्यक्तित्व मे अन्तर कर दिया है। व्यक्तित्व मे अन्तर होने से, एकसी परिस्थिति मे पोषित किये जाने पर भी, इनके शरीर के निर्माण, मानसिक चेष्टा आदि मे अन्तर हो जाता है। या

(२) इन बालकों के शरीर के अन्तर्स्थित जो आत्माये है उनके—पूर्व संस्कार मे विभिन्नता होने के कारण एक ही वातावरण मे पोषित किये जाने पर भी—शरीर के निर्माण, प्रवृत्ति, मानसिक चेष्टा आदि के विकास मे अन्तर पड जाता है।

इन दो सम्भावित कारणो मे से पहिले प्रथम कारण की समीक्षा करनी उचित होगी कि क्या किसी अदृश्य शक्ति या व्यक्ति ने इन बालकों का निर्माण किया है और निर्माण करते हुए इनके व्यक्तित्व मे अन्तर कर दिया है ? प्राणियो का कर्त्ता किसी अदृश्य शक्ति को मान लेने मे कितनी ही बाधाये उपस्थित होती है, जिनमे से कुछ निम्नलिखित है :—

१ प्राणियो के बनाने मे कर्त्ता का क्या प्रयोजन है ? बिना प्रयोजन के कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति किसी कार्य को नही करता है। ससार के अनन्त प्राणियो की रचना का दुष्कर कार्य स्वल्प बुद्धि का कार्य नही हो सकता। इसके लिये अनन्त ज्ञान एव अनन्त सामर्थ्य की आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त जब मनुष्य की आत्मा मे सम्पूर्ण पदार्थों के जानने की शक्ति विद्यमान है, तो इस आत्मा के बनाने वाले कर्त्ता मे भी सम्पूर्ण पदार्थों के जानने की शक्ति अर्थात् सर्वज्ञता अवश्य होनी चाहिये। सर्वज्ञ कर्त्ता किसी कार्य को बिना विशेष प्रयोजन के कदापि नही करेगा। कोई उचित प्रयोजन सृष्टि या प्राणि समाज की रचना का दृष्टिगोचर नही होता। निम्नलिखित दो प्रयोजन सृष्टि रचना के कहे जा सकते है :—

(क) सृष्टि रचना सर्वज्ञ कर्त्ता का स्वभाव है। यदि ऐसा माना जाय, तो इसमे कुछ आपत्तिया आती है। जो वस्तु उत्पन्न होती है, उसका नाश भी अवश्य होता है। यह सिद्धान्त अटल है। इसकी सत्यता निर्विवाद सिद्ध है। संसार के प्रत्येक पदार्थ की अवस्था मे परिवर्तन व प्रत्येक घटना इस सिद्धान्त की सत्यता को घोषित करती है। इसलिये इस सिद्धान्त की सत्यता के सम्बन्ध मे अधिक अन्वेषण करना व्यर्थ है। इस सिद्धान्त के अनुसार यह मानना होगा कि यदि उस सर्वज्ञ कर्त्ता का स्वभाव प्राणि समाज की रचना करना है, तो उसका स्वभाव प्राणि-समाज का विनाश करना भी है अर्थात् उस सर्वज्ञ कर्त्ता का स्वभाव प्राणि-समाज का उत्पादन व विनाश करना सिद्ध होता है।

ससार मे कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति किसी वस्तु को बनाकर नष्ट नही करता। यदि बनाने के पश्चात् उस व्यक्ति को उस वस्तु के निर्माण मे त्रुटि दिखलाई देती है, तो वह उस त्रुटि को दूर करने के लिये, उस वस्तु को तोड डालता है, त्रुटि एव दूषण से मुक्त करके फिर उस वस्तु का निर्माण करता है। कर्त्ता की तुलना अज्ञानी मनुष्य के साथ इस विषय मे नही की जा सकती। कर्त्ता सर्वज्ञ है, सब वस्तुओ के स्वभाव व उनकी भिन्न-भिन्न अवस्थाओ को पूर्णतय जानता है। ऐसे सर्वज्ञ कर्त्ता के कार्य मे त्रुटि का होना असम्भव है। किसी वस्तु का निर्माण करके फिर उसका नष्ट कर देना, यह कार्य तो बालको की लीला के सदृश है। इस लीला मे अज्ञानता की गन्ध आती है। सर्वज्ञ कर्त्ता का ऐसा स्वभाव नही हो सकता कि जिसमे अल्पज्ञता या अज्ञानता का सद्भाव हो। इसलिये प्राणि समाज की रचना, सर्वज्ञ कर्त्ता का स्वभाव नही हो सकता।

(ख) दूसरा प्रयोजन सृष्टि रचना का यह कहा जा सकता है कि सर्वज्ञ कर्त्ता ने मनुष्य, पशु आदि प्राणि समाज की रचना, अपना ऐश्वर्य व सामर्थ्य दिखलाने के लिये की है। ऐसा मान लेने मे दो बाधाये उपस्थित होती है —

(अ) सर्वज्ञ कर्त्ता मे अहंकार व अभिमान के दोष का आरोपण होता है। एक ऐसे व्यक्ति मे—जो जगत के चर अचर समस्त पदार्थ, अहकार आदि समस्त भावनाओ के दोष व गुण को भलीभाति पूर्णतया जानता है—अहकार व अभिमान का दोष शोभा नही देता।[1] इसलिये यह प्रयोजन बुद्धि को अग्राह्य है।

(आ) अपना ऐश्वर्य व सामर्थ्य उस व्यक्ति को दिखलाया जाता है कि जो इन विशेषताओ (ऐश्वर्य व सामर्थ्य) की क्षमता मे बराबरी या उच्चता का दावा करता है। इस अवस्था मे तो सर्वज्ञ कर्त्ता के अतिरिक्त न कोई प्राणी है (क्योकि प्राणिसमाज का उत्पादक कर्त्ता को मान लेने से किसी प्राणी का अस्तित्व पहिले से स्थित नही रहता), न बराबरी न उच्चताका दावा करने वाला कोई व्यक्ति ही है। ऐसी दशा मे सामर्थ्य व ऐश्वर्य दिखलाना प्राणिसमाज के निर्माण का प्रयोजन नहीं हो सकता। इसलिये कोई युक्तिसगत, हृदयग्राह्य प्रयोजन सष्टि रचने का प्रतीत नही होता।

२. दूसरी बाधा यह आती है कि सर्वज्ञ कर्त्ता ने प्राणिसमाज की रचना किस पदार्थ से की है ? शून्य से अथवा अपने दिव्य शरीर से या किसी अन्य पदार्थ के अस्तित्व से, जो पहिले से ही विद्यमान था ? यदि कहा जावे कि सर्वज्ञ कर्त्ता ने शून्य (पदार्थों के अभाव की दशा) से बनाया है, तो यह कथन बुद्धि असगत है। शून्य से किसी वस्तु का उत्पन्न होना विज्ञान के समस्त अनुसन्धान के विरुद्ध है। विज्ञान के सिद्धान्त—'ससार मे किसी वस्तु का विनाश नही होता और न कोई वस्तु शून्य से

---

[1] **नोट—ऐसा मानने वाले प्रायः कर्त्ता व ईश्वर को आनन्दमयी भी मानते हैं। अहंकारी व अभिमानी व्यक्ति आनन्दमयी नहीं हो सकता, अहंकार की भावना आनन्द स्वरूप की घातक है। इस हेतु से ईश्वर को जगतकर्त्ता मानने में, उसके आनन्द स्वरूप में भी बाधा पड़ती है।**

उत्पन्न होती है'—के विवेचन से स्पष्ट है कि शून्य से कोई वस्तु उत्पन्न नहीं की जा सकती।

यदि कहा जावे कि उस कर्त्ता ने अपने दिव्य शरीर से सृष्टि की रचना की है, तो इसका अर्थ यह होता है कि उस कर्त्ता ने अपने दिव्य शरीर में से कुछ भाग को पृथक करके मनुष्य, पशु, पक्षी आदि प्राणियो के रूप में परिवर्त्तित कर दिया है। ऐसा मान लेने मे कई दूषण आते हैं :—

प्रथम दूषण यह आता है कि कर्त्ता ज्यो-ज्यो नये प्राणियो की रचना अपने दिव्य शरीर मे से करता जावेगा, त्यो-त्यो उसका दिव्य शरीर घटता जावेगा। क्षीण होते-होते एक दिन ऐसा आ जावेगा कि उसके सम्पूर्ण दिव्य शरीर का ही विनाश हो जावेगा।[1] शरीर का विनाश होते ही उस कर्त्ता का विनाश तथा नवीन प्राणीसमाज की रचना का कार्य भी बन्द हो

---

[1] ऐसा मानने वालों को उपरोक्त विनाश से बचने के लिये यह कहना होगा कि जब मनुष्य आदि प्राणी मरते हैं, तो मरने के पश्चात् उनकी आत्मायें कर्त्ता के दिव्य आत्मिक शरीर में मिल जाती हैं, जिससे कर्त्ता का दिव्य शरीर शास्वत बना रहता है। ऐसा मान लेने में कितनी ही बाधायें उपस्थित होती हैं। जिनमें से कुछ ये हैं :—

जब उस सर्वज्ञ-कर्त्ता ने अपने दिव्य शरीर से अंश पृथक किये, तो इन अंशधारी प्राणियों में अन्तर क्यों किया? क्यों उनको अज्ञानी बनाया? मनुष्य आदि प्राणी जब मरकर वापिस आते हैं, तो क्या उनके कर्म संस्कार साथ लगे रहते हैं। यदि साथ लगे रहते हैं, तो मृत्यु के पश्चात् आये हुए आत्मिक अंश पृथक-पृथक रहेंगे, सर्वथा मिल नहीं जावेंगे। इस प्रकार उस दिव्य शरीरधारी कर्त्ता को ऐसे कर्म संस्कार युक्त भिन्न-भिन्न अंशों का समूह मानना होगा, उसका शुद्ध स्वरूप नष्ट हो जावेगा। यदि यह माना जावे कि मृत्यु के पश्चात् ये अंश, कर्म संस्कारों से सर्वथा मुक्त होकर एवं शुद्ध दशा को प्राप्त होकर, पहिले ही से विद्यमान शुद्ध दिव्य शरीर में मिल

जावेगा। नये प्राणियों के उत्पन्न न होने तथा पहिले प्राणियो के मृत्यु को प्राप्त हो जाने से ससार प्राणीशून्य हो जावेगा एवं प्रलय सदैव के लिये हो जावेगी। यह परिणाम विद्यमान परिस्थिति के विरुद्ध होने से हृदय को अग्राह्य है।

द्वितीय दूषण यह आता है कि ऐसा मान लेने से उस कर्त्ता को भिन्न-भिन्न अस्तित्व रखने वाले अनेक प्रदेशो का समूह मानना होगा। क्योकि किसी अखड द्रव्य का न भेद किया जा सकता है और न उससे पृथक भाग। ऐसी दशा मे उस अनन्त शक्ति, अनन्त ज्ञान वाले कर्त्ता को भिन्न-भिन्न, स्वतत्र अस्तित्व रखने वाले असंख्यात कर्त्ताओ का समूह मानना होगा। दूसरे शब्दो मे यह कहा जा सकता है कि अनन्त ज्ञान, अनन्त शक्ति युक्त कर्त्ता एक नही है वरन् ऐसे अनन्त कर्त्ता हैं। जितने कर्त्ता है, उतने ही प्राणी हो सकेगे। भिन्न-भिन्न अस्तित्व रखने वाले अनन्त कर्त्ताओ के होने से उन सब का कार्य सदैव एक जैसा नही होगा। उनके परस्पर कार्य मे भेद व विरोध होने के कारण कर्त्तृत्व-कार्य ही बन्द हो जावेगा। इसके अतिरिक्त ऐसी दशा मे कर्त्ता एव प्राणीसमाज मे कोई अन्तर नही रहेगा क्योकि प्रत्येक कर्त्ता ही प्राणी का रूप धारण कर लेता है, इन कारणो से यह कथन—कर्त्ता अपने दिव्य शरीर मे से प्राणीसमाज की रचना करता है—मानने के अयोग्य है।

यदि यह कहा जावे कि उस अनन्त सामर्थ्य व अनन्त ज्ञान युक्त कर्त्ता का प्रतिबिम्ब कुछ विशेष भौतिक पदार्थों पर पड़ता है या उससे कुछ विशेष पुद्गल परमाणु के पुज प्रभावित हो जाते है। जिस प्रकार सूर्य

जाते है, तो प्रश्न उठता है कि ये कर्म संस्कार नष्ट क्यों हो जाते हैं ? उन प्राणियों को अपने कर्मों का फल क्यों नहीं मिलता ?

इस प्रकार अनेक बाधायें उठती हैं, जिनका अधिक विवेचन करना असंगत है।

अपने तेज व ज्योति से अन्य पदार्थों को तप्त व प्रकाशित करता है, उसी प्रकार यह कर्त्ता अपनी सामर्थ्य से कुछ चेतन शक्ति, भौतिक परमाणु या पदार्थों मे प्रवेश करा देता है, जिसके कारण इन भौतिक परमाणु या पदार्थों मे चेतनता आ जाती है और ये चेतना युक्त परमाणु या पदार्थ मनुष्य, पशु पक्षी आदि प्राणियों के रूप मे दिखलाई देते है।

वैज्ञानिक शैली से अन्वीक्षण करने पर इस विवेचन के निम्नलिखित दो तात्पर्य हो सकते है :—

(क) भौतिक पदार्थों मे चेतना शक्ति आ जाती है और ये चेतना-शक्ति युक्त पदार्थ मनुष्य, पशु आदि प्राणीसमाज के रूप मे दृष्टिगोचर होते है। अथवा

(ख) भौतिक पदार्थों मे चेतनशक्ति तो वास्तव मे नही आती है, केवल उसका आभास पडता है। इस आभास के कारण ही, हाड़, मास आदि के बने हुए मनुष्य के शरीर मे चेतनता प्रतीत होती है। जब एकसे हाड़, मास के बने हुए शरीरो पर उस दिव्य चेतनमयी कर्त्ता का आभास पडता है, तो यह आभास प्रत्येक शरीर पर एकसा ही होना चाहिये, फिर इन शरीरधारी मनुष्यो मे इतना अन्तर क्यो ? इनमें भिन्न-भिन्न प्रकार का ज्ञान एव भावना क्यो ? इनके कार्य एक दूसरे से विभिन्न और कही-कही विपरीत क्यो ? इन बातो का कोई सन्तोषप्रद उत्तर उपरोक्त बात मानने से नही मिलता है। इसके अतिरिक्त, वास्तव मे, आभास का कोई स्वतत्र अस्तित्व नही है। इसका यह अर्थ होता है कि, वास्तव मे, मनुष्य मे ज्ञान, आनन्द आदि कोई गुण नही है। ये गुण मनुष्य मे, बुद्धि भ्रम के कारण ही दिखलाई देते है। यह परिणाम पूर्व मे निश्चित किये हुए आत्म स्वरूप के बिल्कुल विपरीत है, इसलिये बुद्धि को अग्राह्य है।

यदि पहिला तात्पर्य कहा जावे कि 'भौतिक पदार्थ मे चेतनशक्ति आ जाती है' तो यह भी पूर्व निश्चित सिद्धान्त—"कोई वस्तु अपने स्वभाव

के विपरीत गुण को धारण नही कर सकती"—के विरुद्ध है। जैसे उष्ण स्वरूप अग्नि अपने स्वभाव के विपरीत शीतलता को धारण नही कर सकती, उसी प्रकार जड, अचेतन स्वरूप भौतिक पदार्थ ज्ञान-आनन्दमय चैतन्य स्वरूप के धारण करने मे असमर्थ है।

इसके अतिरिक्त उस सर्वज्ञ कर्त्ता के अखड चेतन स्वरूप मे से कोई अंश पृथक नही हो सकता क्योकि चेतनशक्ति अखड है। यदि चेतन-शक्ति मे से कुछ अश का पृथक होना मान लिया जावे, तो इसका परिणाम यह होगा कि उस सर्वज्ञ कर्त्ता की चेतनशक्ति मे से अश धीरे-धीरे पृथक होते जावेगे और एक समय ऐसा आ जावेगा कि स्वय सर्वज्ञकर्त्ता चेतन-शक्ति विहीन हो जावेगा। इसलिये यह तात्पर्य भी बुद्धि को अग्राह्य है। उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि यह पक्ष "सर्वज्ञकर्त्ता का प्रतिबिम्ब कुछ पदार्थों पर पड़ता है, जिससे प्रभावित होकर वे पदार्थ मनुष्य आदि प्राणियों का रूप धारण कर लेते है" बुद्धि विरुद्ध और मानने के अयोग्य है।

यदि यह कहा जावे कि एक दिव्य आत्मिक शक्ति का पुज सर्वज्ञकर्त्ता से पृथक पहिले ही से विद्यमान है, अनन्त सामर्थ्यवान कर्त्ता इस पुज मे से प्राणीसमाज की रचना करता है। ऐसी दशा मे कर्त्ता के साथ-साथ प्रत्येक प्राणी का अस्तित्व पहिले ही से मान लिया जाता है और यह कर्त्ता इन प्राणियो का बनाने वाला नही रहता है वरन् उस सर्वज्ञ सामर्थ्यवान व्यक्ति का कार्य नियत्रण व प्रबन्ध करने मात्र रह जाता है।[1]

इसके अतिरिक्त यह प्रश्न स्वभाविक ही उठता है कि दिव्य आत्मिक शक्ति का यह पुज अखंड द्रव्य है या बालु के परमाणु सदृश, पृथक-पृथक अशों का बना हुआ है। यदि यह दिव्य आत्मिक शक्ति का पुज एक अखड द्रव्य है, तो इसमे से कोई भी अश पृथक नही किया जा सकता। बिना

---

[1] इस पर विचार 'क्या कोई कर्मफलदाता है' शीर्षक अध्याय में किया जावेगा।

किसी अंश के पृथक हुए किसी भी प्राणी की रचना नही की जा सकती।

यदि दिव्य आत्मिक शक्ति का यह पुज बालु सदृश, पृथक-पृथक अशों का बना हुआ है और एक-एक अश एक-एक प्राणी का रूप धारण कर लेता है, तो क्या ये सब अश एकसे होगे या इनमे विभिन्नता होगी। यदि ये सब अश एकसे है, तो इनके धारण करने वाले प्राणी भी एक ही सदृश होने चाहिये। यदि कर्त्ता ने, बिना किसी कारण, इन प्राणियो मे अन्तर कर दिया है, तो कर्त्ता मे स्वेच्छाचारिता, अन्याय, अविवेक आदि अनेक दोषों का आरोप होता है। ऐसे अनेक अवगुणो से युक्त व्यक्ति को सर्वज्ञकर्त्ता मानना बुद्धि के विरुद्ध है।

यदि ये अश पहिले ही से विभिन्न है, तो इस विभिन्नता का कारण क्या है? क्या यह विभिन्नता पूर्व सस्कारो के कारण है? यदि यह विभिन्नता पूर्व सस्कारो के कारण है, तो इसका विचार उपरोक्त एक साथ उत्पन्न बालको की परस्पर विभिन्नता के दूसरे सम्भावित कारण मे किया जावेगा।

३ अदृश्य शक्ति को कर्त्ता मानने मे तीसरी बाधा यह आती है कि कोई कर्त्ता इन्द्रियगोचर नही है, इसलिये उस कर्त्ता को अदृश्य एव अमूर्त्तिक मानना होगा। यह जानने की उत्कठा स्वयमेव उत्पन्न होती है कि अमूर्त्तिक कर्त्ता किस प्रकार प्राणीसमाज की रचना करता है? क्या वह कर्त्ता, कारीगर की भाति, सृष्टिरचना का कार्य करता है? अथवा उसकी आज्ञा या संकल्प के होने ही समस्त प्राणी समाज की रचना हो जाती है?

यदि यह कहा जावे कि वह कर्त्ता अपने अदृश्य हाथो से, कारीगर की भाति, ससार के प्राणियो की रचना करता है, तो उस कर्त्ता को अपने आपको असख्य, अदृश्य हस्तो मे परिणत करना होगा, क्योंकि यह जगत अनेक प्रकार के अगणित प्राणियो से भरा पडा है और इस जगत मे प्रति क्षण असख्यात प्राणियो की उत्पत्ति व विनाश होता रहता है। उस जगत-कर्त्ता का अदृश्य हस्तमयी हो जाना हृदय को अग्राह्य प्रतीत होता है। दूसरी बात भी—कर्त्ता की आज्ञा वा संकल्प होते ही संसार के समस्त प्राणियो

का निर्माण हो जाता है और निश दिन असख्यात जीवों की उत्पत्ति व विनाश के रूप मे प्राणी समाज मे परिवर्तन होता रहता है—ठीक नही मालूम होती, क्योंकि कर्त्ता की आज्ञा (या सकल्प) व प्राणी समाज के निर्माण मे कारण कार्य की शृखला का उचित हृदयग्राह्य सम्बन्ध प्रतीत नही होता है।

उपरोक्त बाधाओं के अतिरिक्त और भी कितनी ही बाधाये प्राणी समाज का रचयिता, किसी कर्त्ता को मानने मे आती है। इन आपत्तियो के कारण, यही मानना पडता है कि प्राणी समाज का निर्मापक कोई कर्त्ता नही है। इसलिये उपरोक्त बालकों मे विभिन्नता का कारण दूसरा सम्भावित कारण ही मानना पड़ेगा अर्थात् इन बालकों के शरीर के निर्माण, मनोवृत्ति आदि मे विभिन्नता का कारण उनके विभिन्न पूर्व सस्कार है। अत· इस दूसरे सम्भावित कारण—पूर्व विभिन्न संस्कार—की परीक्षा भी समुचित प्रकार करनी होगी।

(३) पुनर्जन्म

यह पहिले ही निर्णय किया जा चुका है कि शक्तिरूप से समस्त जीवों का स्वरूप एकसा ही है। अतएव यह मानना होगा कि इन बालको मे विभिन्नता का कारण, उनके पूर्व संस्कार अथवा कर्मफल[1] की विभिन्नता ही है। पूर्व संस्कार (कर्मफल) मे विभिन्नता उसी समय हो सकती है, जब कि इन दोनो बालको की आत्मायें, इस मनुष्य जन्म से पूर्व, मनुष्य, पशु आदि किसी अन्य योनि मे रही हो और उस पूर्व योनि मे भी भिन्न-भिन्न प्रकार के कर्म किये हो। भिन्न-भिन्न प्रकार के कर्म किये बिना,

---

[1] किसी जीव द्वारा किये कर्म के फलस्वरूप जो प्रभाव उस जीव पर पड़ता है, उसको संस्कार कहा जाता है, अतएव कर्मफल व संस्कार पर्यायवाची शब्द है।

पूर्व संस्कारो मे विभिन्नता नही आ सकती है। इसलिये यह मानना ही पडता है कि इन बालको की आत्मायें, इस मनुष्य जन्म से पूर्व, अन्य योनि मे रही हैं और उस योनि मे इन बालको की आत्माओ ने भिन्न-भिन्न प्रकार के कर्म किये है, जिनके कारण, वर्तमान पर्याय मे एकसी परिस्थिति होते हुए भी, इन बालकों मे अन्तर है।

अब प्रश्न उठता है कि इन बालको की आत्माओ ने, पहिली योनि में, भिन्न-भिन्न प्रकार के कर्म क्यो किये थे ? यदि उनकी आत्मायें, पहिली योनि मे, सर्वथा एकसी थी अर्थात् उनके ज्ञान का विकास, मनोवृत्ति, रहन-सहन, कार्यपद्धति, परिस्थिति आदि सब बाते एकसी थी, तो उन्हें एक से ही कार्य करने चाहिये थे। इनके कार्यों मे अन्तर होने का कोई हेतु दिखलाई नही देता। इसलिये यह मानना पड़ता है कि इस मनुष्य योनि से पूर्व योनि मे भी, इन बालको की आत्मायें सर्वथा एकसी नही थी। इनकी मनोवृत्ति, ज्ञान व शरीर की स्थिति, कार्यशैली, परिस्थिति आदि मे विभिन्नता थी। पूर्व योनि मे विभन्नता का कारण, उस योनि से पूर्व के सस्कार मानने होगे। पूर्व योनि से पूर्व के सस्कार यह बतलाते है कि इन दोनों बालकों की आत्मायें, पूर्व योनि से भी पूर्व, अन्य किसी दूसरी योनि मे अवश्य रही है और उस पूर्व योनि मे भिन्न-भिन्न प्रकार के कर्म करने के कारण ही, भिन्न-भिन्न प्रकार के सस्कार बालको की आत्माओं पर पड़े थे, जिससे पूर्व योनि मे भी इन बालको की आत्मायें सर्वथा एक जैसी न थी। यदि इसी प्रकार इन बालको की विभिन्नता का कारण, उनकी आत्माओ पर पूर्व जन्म के भिन्न-भिन्न सस्कार एव भिन्न-भिन्न सस्कारो के हेतु पूर्व जन्म के भिन्न-भिन्न कार्यों पर विचार करते चले जावे, तो वर्तमान योनि से पूर्व, पहिली योनि निश्चित होती है, उससे पूर्व दूसरी योनि, दूसरी योनि से पूर्व, तीसरी योनि, इसी क्रम से चौथी, पाचवी आदि अनेक योनियां निश्चित होती है। अतीत काल मे, जब एक योनि से पूर्व दूसरी योनि के अविरल क्रम पर विचार किया जाता है, तो यह अविरल क्रम समाप्त कही

नहीं होता, अतीत काल की अनादि अवस्था मे जाकर लय हो जाता है।

इस अनुसन्धान से, हम इस परिणाम पर पहुचते है कि जीव अनादि काल से है, इसका निर्माण कभी किसी कर्त्ता के द्वारा नही हुआ है, यह जीव मनुष्य, पशु, पक्षी, जलचर, कीट, पतग आदि छोटे-छोटे जन्तु, वृक्ष आदि वनस्पति[1] आदि अनेक योनियो मे शरीर धारण करता हुआ भ्रमण कर रहा है, भिन्न-भिन्न प्रकार के कार्य करने से भिन्न-भिन्न सस्कार उसकी आत्मा पर पडते है; भिन्न-भिन्न सस्कारो के कारण, भिन्न-भिन्न योनिया, आगामी जीवन मे, उसको मिलती है; इन्ही भिन्न-भिन्न सस्कारो के कारण, आगामी जीवन मे, जीव के ज्ञान, विकास, भावना, प्रवृत्ति, शरीर निर्माण, कार्यशैली आदि मे अन्तर पड जाता है।

इस पुस्तक के "मनोविज्ञान अनुसधान समिति के अनुभव" शीर्षक अध्याय मे क्या "शारीरिक मृत्यु हो जाने पर मनुष्य का व्यक्तित्व नष्ट हो

---

[1] प्रसिद्ध वैज्ञानिक श्री जगदीशचन्द्र वसु (J. C. Bose) के अनुसन्धानों से, यह सिद्ध हो गया है कि पशुओं के शरीर की भाँति, वृक्षों में भी, सूक्ष्म तन्तु (Nerves System) होते हैं। इन्हीं के द्वारा, वे भोजन के रस को एक भाग से दूसरे भाग को पहुंचाते हैं। अन्य प्राणियों के सदृश, वृक्ष भी निद्रा लेते हैं। जैसे किसी शस्त्र आघात से, पशु विह्वल व दुखी होता है, उसी प्रकार आघात से, वृक्ष के सूक्ष्म तन्तुओं में क्षोभ (चंचलता) उत्पन्न हो जाता है। जैसे मनुष्य शरीर में, विष के प्रवेश किये जाने पर, उसकी भौतिक मृत्यु हो जाती है, उसी प्रकार वृक्ष के सूक्ष्म तन्तुओं के भीतर, विष पहुंचा दिये जाने पर, वह वृक्ष सूख जाता है, अर्थात् उसकी मृत्यु हो जाती है। वृक्ष के सूक्ष्म तन्तुओं की, पशु शरीर में विद्यमान सूक्ष्म तन्तुओं के साथ सादृश्यता, इस बात को प्रमाणित करती है कि वृक्ष में भी, पशु समाज के सदृश, जीव हैं। इसके अतिरिक्त, भारत के समस्त धर्म, पशुओं की भांति, वृक्षों में भी, जीव मानते हैं।

जाता है" लघुशीर्षक मे कितनी ही घटनाओं को—जिनकी सत्यता वैज्ञानिक पद्धति से भलीभाति सिद्ध हो चुकी है—उद्धृत किया गया है। इन घटनाओ की सत्यता से स्पष्ट है कि शारीरिक नाश होने पर, आत्मा का नाश नही होता है, वरन् जीव अन्य योनि मे जन्म ले लेता है।

जब जीव अनादि काल से है और मनुष्य, पशु आदि अनेक योनियो मे, अनादि काल से ही भ्रमण कर रहा है, तो यह प्रतीत होता है कि इस जीव का विनाश, आगामी काल मे भी नही होगा; किसी न किसी योनि या दशा मे अवश्य विद्यमान रहेगा, क्योकि जीव की सत्ता का विनाश करने वाला कोई हेतु दिखलाई नही देता है। इसके अतिरिक्त विज्ञान का नियम है एव ससार मे भी प्रत्यक्ष देखा जाता है कि जो उत्पन्न होता है, उसका नाश भी अवश्य होता है, जिसका नाश होता है, वह उत्पन्न भी अवश्य हुआ है। इसी प्रकार जो उत्पन्न नही हुआ है, उसका नाश भी नही होगा। यह नियम अटल है, इसकी सत्यता, ससार की प्रत्येक घटना मे, पाई जाती है। इसकी सत्यता, जिस वस्तु पर चाहो घटित करके देख लो। उपरोक्त कथन से प्रमाणित होता है कि जीव, अनेक योनियो के रूप मे आवागमन करता हुआ, अनादि काल से विद्यमान है और अनन्त काल तक रहेगा एव अनादि काल से ही, कर्म सस्कारो से युक्त, चला आता है।

८—कर्म सिद्धान्त

(१) क्या कोई कर्म फलदाता है ?

जीव के सम्बन्ध मे उपरोक्त ज्ञान हो जाने पर, यह जानने की स्वाभाविक उत्कठा होती है कि प्राणी जो कर्म करता है और जिनके अनुसार उस प्राणी मे कुछ सस्कार पड जाते है, इन सस्कारो का क्या स्वरूप है ? ये सस्कार कहा पर रहते है ? किस प्रकार पडते है ? इनके अनुसार जीव, एक योनि से दूसरी यानि मे, कैसे जाता है ? जीव को, उसके पूर्व कर्मों का फल, कैसे मिलता है ? इन प्रश्नो के उत्तर, निम्न दो प्रकार से, दिये जा सकते है :—

(क) जैसे कुम्हार, मिट्टी से, घडे को बनाता है या घडी का निर्माता, भिन्न-भिन्न पुर्जों को एकत्रित करके, उपयुक्त स्थानो मे जोडकर, घडी को तय्यार कर देता है, उसी प्रकार एक विशेष चेतन शक्ति (ईश्वर) मनुष्य को उसके पूर्व कर्मानुसार फल देती है, एक योनि से दूसरी योनि मे ले जाती है, माता के गर्भ से लगाकर यौवनावस्था पर्यन्त पोषण करके, शरीर का निर्माण करती है, विविध प्रकार के ऐश्वर्य की सामग्री जुटाती है या भोजन वस्त्र विहीन दशा मे रखती है, ज्ञान के विकास व भावना मे विभिन्नता उत्पन्न करती है। साराश मे मनुष्य जीवन मे, जो अनेक प्रकार के सुख दुख की घटनाये होती रहती है, उन समस्त घटना व कार्यों को, उसके पूर्व कर्मों के फलानुसार, वह विशेष चेतन शक्ति करती रहती है।

(ख) मनुष्य जो कर्म करता है, उन कर्मो का फल देने वाली, एक योनि से दूसरी योनि मे ले जाने वाली कोई अन्य विशेष चेतन शक्ति

(ईश्वर) नही है। ससार के अनेक पदार्थों की अवस्थाओं में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है, परन्तु उन अवस्थाओ मे परिवर्तन करने वाला, कोई चेतन व्यक्ति नही होता, उनमे परिवर्तन, स्वयं ही, प्राकृतिक नियमो के अनुसार होता रहता है। जैसे जल का, धूप की उष्णता पाकर, भाप बनकर आकाश मे उड जाना, भाप का आकाश के शीत भाग मे पहुच कर, छोटे-छोटे जलबिन्दुओ के रूप मे परिवर्त्तित होकर, मेघ के रूप मे दिखलाई देना, फिर मेघ के भारी होने पर, वर्षा के रूप मे, पृथ्वी पर गिरना, बिजली का चमकना, गडगडाहट का घोर शब्द होना आदि अनेक बाते है, जिनका सचालक कोई चेतन व्यक्ति नही है। ये सब घटनाये व परिवर्तन, प्राकृतिक नियमो के अनुसार, स्वत· होते रहते है। इसी प्रकार मनुष्य को, उसके पूर्व कृत कर्मों का फल देने वाला, एक योनि से दूसरी योनि मे ले जाने वाला, माता के गर्भ मे, भ्रूण अवस्था से लगाकर यौवन अवस्था पर्यन्त, शरीर की वृद्धि व निर्णय करने वाला एव जीवन की अन्य बाते निश्चित करने वाला, कोई अन्य विशेष चेतन व्यक्ति, नियन्ता नही है, वरन् यह सब कार्य, कुछ गूढ नियमो के अनुसार, स्वय ही हो रहा है।

उपरोक्त प्रथम सिद्धान्त पर—क्या मनुष्य का कर्मफलदाता कोई विशेष चेतन व्यक्ति है—पहिले विचार करना उचित होगा। प्राणियो को, उनके किये हुए कर्मों के अनुसार, फल देने के कार्य की तुलना न्यायाधीश के कार्य मे की जा सकती है। ससार मे अनन्तानन्त प्राणी हैं। उन सब को उनके कर्मानुसार, फल देने के लिये आवश्यक है कि वह समस्त प्राणी समाज के समस्त कार्यों की पूरी-पूरी सूचना एव उन कार्यों के फल देने की पूरी-पूरी **सामर्थ्य** रखे। इसलिये कर्मफलदाता को सर्वज्ञ एव अनन्त सामर्थ्यवान मानना होगा। किसी विशेष चेतन व्यक्ति को सर्वज्ञ, अनन्त शक्ति युक्त, कर्मफलदाता मानने में, कितनी ही आपत्तिया उपस्थित होती है, जिनमे से कुछ नीचे दी जाती है :—

(१) ऐसा विशेष चेतन व्यक्ति दृष्टिगोचर नही होता, इसलिये इस व्यक्ति को अदृश्य, अमूर्त्तिक मानना होगा। यह बुद्धि मे नही आता कि वह अमूर्त्तिक व्यक्ति, किस प्रकार मनुष्य से मूर्त्तिक पदार्थ को, बनाता होगा, किस प्रकार माता के गर्भ मे, भ्रूण से लगाकर यौवन अवस्था पर्यन्त, पोषित करता होगा, धनधान्य, भूषण आदि मूर्त्तिक पदार्थ का सयोग कराता होगा, कैसे मनुष्य की भावना को, शुभ व अशुभ प्रवृत्ति की **ओर प्रेरित करता होगा,** कैसे मनुष्य की ज्ञान शक्ति का विकास करता होगा आदि—

(२) उस विशेष चेतन व्यक्ति का कार्य, न्यायाधीश तुल्य, बतलाया जाता है। यह देखना है कि मनुष्य के दैनिक कार्यों पर, उस चेतन व्यक्ति, कर्मफलदाता के न्यायकार्य की, कहा तक छाप है। न्यायाधीश का कर्तव्य है कि अपराधी को, उसके अपराध अनुसार, उचित दड दे। दड देने के कितने ही अभिप्राय होते है, परन्तु उन सब अभिप्रायो का समावेश निम्नलिखित दो अभिप्रायो में हो जाता है :—

(क) अपराधी को उसके अपराध का, ऐसा कठोर दड दिया जावे कि जिससे वह तथा अन्य व्यक्ति डर जावे और फिर उस प्रकार के अपराध करने का साहस न करे।

(ख) अपराधी को उसके अपराध का दड, इस प्रकार दिया जावे कि जिससे वह अपराधी सुधर जावे, उसकी मनोवृत्ति में ऐसा परिवर्तन हो जावे कि वह फिर, अपराध करने की ओर प्रवृत्त न हो।

प्रथम अभिप्राय की समीक्षा निम्न प्रकार की जा सकती है :—

मनुष्यो को उनके पूर्व कृत कर्मों का फल इस प्रकार मिलता है या नही कि जिससे वे स्वय तथा मानव समाज ऐसा भयभीत हो जावे कि वह भविष्य मे पाप कार्य न करे। जब कोई मनुष्य चोरी करता है, तो उस पर राज्य की ओर से अभियोग लगाया जाता है। यह प्रमाणित होने पर कि उस व्यक्ति ने चोरी की है, न्यायाधीश उसको कारागार,

जुर्माना आदि का उपयुक्त दड देता है। वह अपराधी व्यक्ति तथा अन्य मनुष्य यह जान जाते है कि उस व्यक्ति ने चोरी की थी, इसलिये उसको दंड मिला। चोरी का अपराध एव उसके फलस्वरूप दड का ज्ञान होने से, वह व्यक्ति एव साधारण जन समाज डर जाती है और चोरी करने का साहस नही करती है।

यदि किसी देश का शासक या न्यायाधीश किसी व्यक्ति को पकडवा कर कारागार मे डाल दे और उस पर न तो अभियोग लगावे, न यही प्रगट करे कि उसने क्या अपराध किया है। ऐसी दशा मे जनता उस व्यक्ति को निर्दोष एव उस शासक व न्यायाधीश को अन्यायी, स्वेच्छाचारी समझेगी। अपराध एव उसके फलस्वरूप दड का ज्ञान न होने से, जनता कदापि उस अपराध के करने से नही डरेगी। इसी प्रकार जब कोई व्यक्ति मनुष्य योनि मे जन्म लेता है और जन्म से ही नेत्रहीन, अपग, आदि दूषित शरीर धारण करता है, तो उस व्यक्ति, उसके सम्बन्धी एव उसके देशवासियो को, यह ज्ञात नही होता है कि उस व्यक्ति के जीव ने, पूर्व जन्म मे, अमुक पाप कर्म किया था, जिसके फलस्वरूप, उसको इस जन्म मे यह दूषित शरीर मिला है। इसी प्रकार जब किसी मनुष्य के शरीर मे कुष्ट आदि रोग हो जाता है, तो उस व्यक्ति या अन्य मनुष्यो को यह ज्ञात नही होता है कि उसने अमुक-अमुक पाप कर्म पूर्व या इस जन्म मे किये है, जिनके फलस्वरूप उसके शरीर मे कुष्ट आदि रोग हुआ है।

इस मानव समाज के किसी व्यक्ति को भी यह ज्ञात नही होता है कि इस मनुष्य योनि मे अगहीनता आदि दोष, जो जन्म से ही कितने मनुष्यो मे पाये जाते है या कुष्ट आदि रोग, जो बाद को हो जाते है, उन दोषो का क्या सम्बन्ध उन मनुष्यो के पूर्व कृत कर्मो से है। इस सम्बन्ध का ज्ञान हुए बिना, मानव समाज उन अज्ञात पाप कर्मो से किस प्रकार डर सकता है और वह उन पाप कर्मो को फिर क्यो न करेगा। इससे स्पष्ट है कि दड देने का प्रथम अभिप्राय—मनुष्य को उसके पाप कर्म का ऐसा कठोर

दड दिया जावे कि जिससे वह स्वयं तथा मानव समाज ऐसा भयभीत हो जावे कि डरकर फिर उस पाप कर्म को न करे—मनुष्य के दैनिक कार्यों से नही पाया जाता है।

इसके अतिरिक्त कभी-कभी यहा तक देखा जाता है कि वे मनुष्य, जो निर्बलो पर अत्याचार व दूसरों की धन सम्पत्ति का अपहरण करते हैं, स्वय विपुल धन सम्पत्ति के स्वामी बन जाते हैं, ससार मे अनेक प्रकार के सुख व ऐश्वर्य को भोगते हैं, जाति से भी आदर पाते हैं। इतिहास के पृष्ठ ऐसे सैकडो पुरुषो के जीवन चरित्र से रगे पडे है, जिनका प्रारम्भिक जीवन डाका डालने एव दूसरो की धन सम्पत्ति को बलपूर्वक हरण करने मे व्यतीत हुआ है, परन्तु अनुकूल परिस्थिति के प्राप्त होते ही बडे-बड़े उच्च पद पर पहुच गये है।[1] इस विवेचन से स्पष्ट है कि प्राणियो को उनके पूर्व कृत कर्मों के फलस्वरूप दड देने मे, उस विशेष चेतन व्यक्ति कर्मफलदाता का डराने का उपरोक्त अभिप्राय कदापि नही हो सकता।

अब यह देखना है कि दड देने के दूसरे अभिप्राय का—अपराधी को दड इस प्रकार दिया जावे कि जिससे उसकी मनोवृत्ति ऐसी बदल जावे कि वह पाप कर्म की ओर प्रवृत्त न हो—प्रभाव कहा तक ससार के मानव समाज के व्यवहार मे पाया जाता है। यदि सुधार करने का उद्देश्य है, तो उस न्यायाधीश तुल्य विशेष चेतन व्यक्ति को चाहिये कि प्राणियों को ऐसी परिस्थिति, देश, योनि, जाति, परिवार, माता पिता के यहां उत्पन्न करे कि जहा उत्पन्न होने से उसे उन्नति करने का पूरा-पूरा सुभीता

---

[1] इतिहास के बहुत से उदाहरणों में से एक प्रसिद्ध उदाहरण दिया जाता है :—

अमीरखां जो १९वीं शताब्दी के प्रारम्भ में पिंडारियों (जिनका काम लूटना, डाका डालना था) का सर्दार था, टौंक रियासत का नवाब बन गया और उसके वंशज आज तक टौंक में राज्य कर रहे हैं।

मिले। बहुत से बालक ऐसे देश, जाति, परिवार, तथा परिस्थिति में उत्पन्न होते है कि जहा चोरी करना, लूटना, डाका डालना, मदिरा पीना, मास खाना आदि कुत्सित कार्य अच्छे समझे जाते है और उनकी जीविका ऐसे ही कार्यों पर निर्भर है। भील, भातू आदि कितनी ही जातिया है, जिनमे लूटना, चोरी करना, शिकार खेलना आदि हीन कार्य अच्छे समझे जाते है। ये जातिया मनुष्य के प्राण ले लेना भी बुरा नही समझती हैं। कुछ जातियो की नैतिक अवस्था इतनी हीन है कि उनमे चोरी करना आदि कुत्सित कार्य, केवल प्रचलित ही नही, वरन् प्रशसा की दृष्टि से देखे जाते है। इन जातियो मे कुमारो के विवाह उस समय तक नही होते है, जब तक कि वे उपरोक्त अपराधो मे जेल की सजा काट न आये हो। खटीक, क़साई आदि कितनी ही जातिया है, जिनमे गाय, बैल, बकरे आदि पशुओ की हत्या का व्यापार होता है। कुछ देश इतने ठडे व बर्फ से ढके रहते है कि वहा किसी प्रकार की कृषि हो ही नही सकती है। वहा के निवासियो को मछली आदि जलचरो के शिकार पर ही निर्भर रहना पड़ता है। वैश्या आदि कुछ ऐसी वृत्तिया है कि जहां की परिस्थिति कन्याओ को व्यभिचार रूप वेश्यावृत्ति के लिये विवश कर देती है।

कुछ देश, जाति, परिवार आदि की ऐसी परिस्थिति है कि जहा नवजात शिशु धीरे-धीरे अपने कुटुम्ब, माता पिता, भाई बहिन, पडौसी व ग्रामवासियो के कार्यों को देखते-देखते तथा उनका अनुकरण करते-करते जाति के समस्त कुत्सित सस्कारो को ग्रहण कर लेता है। बडा होने पर सहज ही मे जाति मे प्रचलित मद्यपान चोरी आदि कुत्सित कार्य को करने लगता है। ये विचार कभी भी उत्पन्न नहीं होते है कि चोरी आदि कार्य अनुचित है। यह बुद्धि मे नही आता है कि सर्वज्ञ कर्मफलदाता ने इन भील, भातू आदि जाति, व परिवारो मे उत्पन्न करके बालको का क्या सुधार किया। इन जातियो के कलुषित वातावरण मे उत्पन्न होकर—जहा जन्म लेने के कारण ही, इन बालको की प्रवृत्ति मद्यपान, चोरी आदि पाप कार्यों में

होने लगती है—इनका अहित हुआ है। उस विशेष चेतन व्यक्ति को ऐसे देश, जाति, परिवार एवं परिस्थिति मे बालको को उत्पन्न करना चाहिये था कि जहा जन्म लेने से, उन्हे अपनी आन्तरिक शक्तियो के विकास, ज्ञान उपार्जन एव शुभ भावनाओ के प्रसार का पूरा-पूरा अवसर मिलता। इससे स्पष्ट है कि सर्वज्ञ कर्मफलदाता का दड देने का अभिप्राय सुधारना कदापि नही हो सकता।

इस प्रकार उस विशेष चेतन व्यक्ति का कार्य न्यायाधीश तुल्य कदापि नहीं है, क्योकि दड देने के दोनों अभिप्रायो की—दड को देखकर अपराधी एवं जनता डर जावे, या दड को पाकर अपराधी सुधर जावे—झलक मानव समाज के व्यवहार मे तनिक भी दिखलाई नही देती है।

(३) जो दड देने की सामर्थ्य रखता है, उसमे अपराध रोकने की भी शक्ति होनी चाहिये। यदि किसी शासक मे यह सामर्थ्य है कि डाकुओं के दल को, उसके अपराध के दड स्वरूप जेल मे बन्द अथवा प्राणदड दे सकता है, तो उस शासक मे यह भी शक्ति होती है कि यदि उसको यह ज्ञात हो जावे कि डाकुओ का दल अमुक गृह मे अमुक समय पर डाका डालकर धन अपहरण एव गृहवासियो की हत्या करेगा, तो डाका डालने से पहिले ही, उस डाकुओ के दल को पुलिस अथवा सेना के द्वारा डाका डालने के घोर अपराध करने से रोक दे। कर्मफलदाता ईश्वर तो सर्वशक्तिमान, दयालु, सर्वज्ञ, अन्तर्यामी है। वह जानता है कि कौन अपराध करेगा। उसे चाहिये कि अपराध करने वाले की भावना बदल दे अथवा उसके मार्ग मे ऐसी अडचनें उपस्थित कर दे कि जिससे वह अपराध करने में सफल न हो सके।

यदि वह अपराध करने वाले के इरादे को जानता है और अपराध रोकने की सामर्थ्य भी रखता है, परन्तु रोकता नही है, अपराध करने देता है और फिर अपराध के फलस्वरूप दंड देता है, तो उसको दयालु व न्यायी नही कहा जा सकता। उसको स्वेच्छाचारी, कर्तव्यविमुख कहना होगा।

(४) ससार मे अनन्त जीव है। प्रत्येक जीव मन, वचन व शरीर द्वारा प्रति क्षण कुछ न कुछ कार्य करता रहता है। क्षण-क्षण की क्रियाओ का इतिहास लिखना एव उनका फल देना, यदि असम्भव नही, तो अत्यन्त दुष्कर है। जब एक जीव के क्षण-क्षण के कार्य का ब्योरा रखना एवं उसका फल देना इतना कठिन है, तो ससार के अनन्त जीवो की क्षण-क्षण क्रियाओ का ब्योरा रखना एव उनका फल देना उस विशेष चेतन व्यक्ति के लिये कैसे सम्भव होगा ? इसके अतिरिक्त संसार के अनन्त जीवो के क्षण-क्षण कर्मों के फल देने मे लगे रहने से, उस विशेष चेतन व्यक्ति का चित्त कितना चिन्तित व व्यथित होगा और वह कैसे शान्ति आनन्द स्वरूप मे मग्न रह सकेगा ? इन प्रश्नो का कोई सन्तोष-प्रद उत्तर समझ मे नही आता।

उपरोक्त कारणो से उन सज्जनो को—जिनकी यह धारणा है कि कोई विशेष चेतन व्यक्ति कर्त्ता या ईश्वर जीवो को कर्म फल देता है—इस बात पर आना पड़ेगा कि उस विशेष चेतन व्यक्ति ने, पहिले ही से, कुछ नियम इस जगत के लिये बना रखे है। उन नियमो के अनुसार प्रत्येक जीव को उसके किये हुए कर्मों का फल स्वत: मिलता रहता है। कर्मफल देने मे वह सर्वज्ञ चेतन व्यक्ति न अपने ज्ञान को प्रयोग मे लाता है और न उससे किंचित भी चिन्तित व व्यथित होता है। वह तो ससार के समस्त पदार्थ एव उनकी अवस्थाओ को पूर्णतया जानता हुआ सदैव शान्ति व आनन्द मे मग्न रहता है।

यह पहिले ही निर्णय हो चुका है कि जीव अनादि काल से है और भिन्न-भिन्न योनियो मे कर्म करता हुआ भ्रमण कर रहा है। जब जीव एव उसका कर्म करने रहना अनादि काल से चला आ रहा है, तो उन नियमो का अस्तित्व—जिनके अनुसार जीव को कर्म फल मिलता है—अनादि काल से ही मानना होगा। इस प्रकार इन नियमो का अस्तित्व अनादि काल मे ही निश्चित होता है। ऐसी दशा मे इन नियमो के बनने का

न कोई समय ही निश्चित हो सकता है और न इनका बनाने वाला ही हो सकता है। यदि कोई सर्वज्ञ अनन्त सामर्थ्यवान व्यक्ति है, तो वह केवल दृष्टा, ज्ञाता ही हो सकता है। कर्मफलदाता नही हो सकता। इस विवेचन से यही निश्चित होता है कि प्राणियो को उनके किये हुए कर्मों का फल, कुछ गूढ नियमो के अनुसार, स्वत मिल रहा है और इन्ही गूढ नियमो के अनुसार, प्राणी एक योनि छोडकर दूसरी योनि धारण करता है।

(२) सिद्धान्तिक विवेचन

(क) कर्म फल देने वाली शक्ति स्वयं प्राणी के भीतर सूक्ष्म शरीर के रूप में विद्यमान है

यह निर्णय हो जाने पर कि प्राणियो को उनके कर्मों का फल किसी अन्य विशेष चेतन शक्ति, व्यक्ति, नियन्ता या ईश्वर के द्वारा नही मिलता है, वरन् कुछ गूढ नियमो के अनुसार स्वत· मिल रहा है; उन गूढ नियमो का पता लगाना अत्यन्त आवश्यक है। इनके ज्ञात हो जाने पर, ससार का रहस्य एव मानुषिक जीवन की अनेक समस्याओ का समाधान कितने ही अशो मे हो जावेगा।

प्राय मनुष्यो को उनके कर्मों का फल उनकी इच्छानुसार नही, प्रत्युत इच्छा के विरुद्ध ही मिलता है। जैसे कोई व्यक्ति, स्वाद् इन्द्रिय के वशीभूत होकर अस्वास्थ्यकर भोजन करता है, तो उसके शरीर मे व्याधि उत्पन्न हो जाती है। वह व्यक्ति उस व्याधि का तनिक भी इच्छुक नही है। उसकी इच्छा तो यही है कि उसके शरीर मे कोई व्याधि उत्पन्न न हो, परन्तु स्वास्थ्य विरुद्ध, हानिप्रद भोजन करने का फल, व्याधि के रूप मे, उसको अपनी इच्छा के विरुद्ध भोगना ही पड़ता है। इसी प्रकार मनुष्य को अपने कर्मों का फल, अपनी इच्छा के न होते हुए भी, भोगना ही पडता

है। इससे प्रगट होता है कि कर्मफल देने वाले नियम एक प्रकार की **शक्ति** (Energy) **के रूप में हैं, जो मनुष्य** की इच्छा व मानुषिक (आत्मिक अथवा शारीरिक) शक्ति के विरुद्ध होते हुए भी, **अपना कार्य करते रहते है** यदि ये कर्मफल देने वाले नियम शक्ति के रूप मे न हों, तो ये नियम, मनुष्य की इच्छा एव शक्ति के विरुद्ध होने पर, अपने कार्य के सम्पादन मे कदापि समर्थ नही हो सकते। इसलिये यही मानना पडता है कि ये कर्मफल देने वाले नियम शक्ति (Energy) के रूप मे है। यह शक्ति न तो चेतन है और न किसी चेतन व्यक्ति मे केन्द्रित होकर कार्य कर रही है, जैसा कि पहिले अध्याय मे निश्चय किया जा चुका है। इसलिये **इस शक्ति को अचेतन ही मानना पड़ेगा।**

अब यह प्रश्न उठता है कि यह कर्मफल देने वाली शक्ति कहा रहती है ? किस स्थान विशेष पर केन्द्रित है ? मनुष्य के भीतर केन्द्रित है या बाहर ?

ससार में अनन्तानन्त जीव है, जो इस जगत के भिन्न-भिन्न भागो मे भिन्न-भिन्न योनियों को धारण किये हुए, भिन्न-भिन्न प्रकार का कार्य करते रहते है। कर्मफल देने वाली शक्ति, मनुष्य से बाहर किसी अन्य विशेष चेतन व्यक्ति, नियन्ता या ईश्वर मे केन्द्रित नही है (जैसा कि अभी निर्णय किया जा चुका है)। यह बुद्धि मे नही आता है कि यह कर्मफल देने वाली अचेतन शक्ति (Energy), प्राणियों के शरीर से बाहर, आकाश या जगत के किसी अन्य स्थान पर केन्द्रित होकर, भिन्न-भिन्न स्थानो के निवासी, अनेक योनियो के धारक, भिन्न-भिन्न जीवो को भिन्न-भिन्न कार्यों का, **भिन्न-भिन्न फल देती** हो। यह देखा जाता है कि प्राणियों के कार्य प्राय: भिन्न-भिन्न प्रकार के होते है, कोई व्यक्ति शुभ भावना से प्रेरित होकर परोपकार का कार्य कर रहा है, उसी समय दूसरा व्यक्ति लोभकषाय के वशीभूत हुआ, किसी अन्य मनुष्य के धन अपहरण के कार्य मे लगा हुआ है। इस प्रकार एक ही समय मे, भिन्न-भिन्न व्यक्ति भिन्न-

भिन्न प्रकार के कार्य कर रहे हैं। कभी-कभी तो कुछ व्यक्तियो के कार्य परस्पर एक दूसरे के पूर्णतया विरोधी होते हैं, जैसे एक व्यक्ति किसी पशु के साथ क्रूरता का बर्त्ताव करता है, उसी समय दूसरा व्यक्ति उसी अथवा अन्य पशु के साथ दया का बर्ताव करता है। इन दोनों व्यक्तियो के कार्य परस्पर एक दूसरे से विरोधी है, इसलिये इन दोनो व्यक्तियो से परस्पर विरोधी कार्य कराने वाली शक्ति भी, एक दूसरे से भिन्न होनी चाहिये। ऐसी दशा मे वह कर्मफल देने वाली अचेतन शक्ति, किसी एक विशेष स्थान पर केन्द्रित रहकर, कैसे परस्पर विरोध रूप कार्य करेगी! इससे यही अनुमान होता है कि यह कर्मफल देने वाली शक्ति, शरीर से बाहर, किसी स्थान पर केन्द्रित नही है, वरन् प्रत्येक प्राणी के भीतर स्वय विद्यमान है। जिस प्रकार जीव, शक्ति रूप से समान होते हुए भी, भिन्न-भिन्न है, उसी प्रकार यह कर्मफल देने वाली शक्ति, एकसी होते हुए भी, **प्रत्येक प्राणी में भिन्न-भिन्न** है।

जीवो की शरीर वृद्धि पर विचार करने से भी, यही निश्चित होता है कि कर्मफल देने वाली शक्ति स्वय मनुष्य के भीतर विद्यमान है। जो शक्तिया बाहर से कार्य करती है, वे विकास के रूप मे वृद्धि नही कर सकती। वायु मे, गमन क्रिया होने से, एक प्रकार की शक्ति है. जो बालू को उडाकर उसका ढेर लगा देती है। यह वायु की शक्ति पहिले थोडी बालू का स्तर (तह) लगाती है, फिर उसके ऊपर बालू का दूसरा स्तर रखती है। इस प्रकार बालू का स्तर एक के ऊपर दूसरा रखते-रखते ढेर हो जाता है। जलप्रवाह के वेग मे एक प्रकार की शक्ति होती है। प्रायः देखा जाता है कि जल प्रवाह सच्चिकण मृतिका का एक ऊचा विस्तरित चौरस ढेर लगा देता है। जल प्रवाह मृतिका को बहाकर लाता है, अपने प्रवाह के वेग से, एक ओर किनारे पर, मृतिका का विस्तरित परन्तु पतला स्तर लगा देता है। उसी नदी का दूसरा प्रवाह उसी ओर किनारे पर, पहिली मृतिका के स्तर के ऊपर, मृतिका का दूसरा स्तर लगा देता है। धीरे

धीरे, कितने ही एक के ऊपर दूसरे स्तर मिलकर, एक ऊंचे विस्तरित चौरस ढेर का रूप धारण कर लेते हैं। वायु गमन, जल प्रवाह वेग के सदृश जितनी भी वाह्य शक्तिया होती है, यदि वे किसी वस्तु को बनाती है, तो पहिले उस वस्तु के थोडे से अश को एकत्रित करती है, फिर धीरे धीरे उस वस्तु के अन्य अशो को, उसी पहिले स्थान पर सचय करके, उस वस्तु का निर्माण करती है।

इसी प्रकार राज जब मकान बनाता है, तो उसको ईंटे, एक के ऊपर दूसरी, रखनी होती है। कारीगर को किसी मशीन के बनाने मे पुर्जे ऊपर नीचे रखने होते है। इस प्रकार जितनी भी वाह्य चेतन या अचेतन शक्तिया कार्य करती है, वे, बाहर से ऊपर नीचे या बगल मे रखकर, वस्तु का निर्माण करती है, ये वाह्य शक्तिया, अन्दर से विकास रूप मे वृद्धि करते हुये, किसी वस्तु का निर्माण नही करती है।

मनुष्य शरीर की वृद्धि पर विचार कीजिये। माता के गर्भाशय मे, पिता का वीर्य व माता का रज परस्पर सम्मिश्रण होनेपर, कलल (organism) की अवस्था मे परिवर्तित हो जाता है, यह कलल, वृद्धि करता करता, भ्रूण दशा को प्राप्त होता है। नवमास पश्चात् यह भ्रूण, माता के गर्भ से निकल कर, छोटे से शिशु का रूप धारण कर लेता है। शिशु धीरे धीरे वृद्धि करता हुआ, बीस पच्चीस वर्ष मे, नवयुवक बन जाता है। यह वृद्धि कलल के भीतर मे होती है। कलल धीरे धीरे परन्तु लगातार अन्दर से चारो ओर को बढ़ता है, भ्रूण की अवस्था धारण करके, धीरे धीरे उसके भीतर से, हस्त पाद आदि इन्द्रियो का विकास होता है। भ्रूण, वृद्धि करता करता माता के गर्भ से निकलकर, शिशु बन जाता है। विकास के रूप मे, शिशु का प्रत्येक अग, सब ओर को उचित ढग से वृद्धि करता हुआ, नवयुवक का रूप धारण कर लेता है। कलल व शिशु की विकास रूप मे वृद्धि, इस बात को बतलाती है कि वृद्धि करने वाली शक्ति उसके भीतर विद्यमान है। यदि यह वृद्धि करने वाली शक्ति, कलल से बाहर, किसी स्थान पर केन्द्रित

होती, तो इस प्रकार विकास के रूप में वृद्धि कलल को नवयुवक अवस्था तक कदापि नही पहुचाती। इस अन्वीक्षण से इस परिणाम पर पहुचा जाता है कि कर्मफल देनेवाली शक्ति, प्रत्येक प्राणी के अन्दर, स्वय विद्यमान है, किसी वाह्य स्थान पर केन्द्रित नही है।

यह ज्ञात हो जाने पर कि कर्मफल देनेवाली शक्ति मनुष्य के भीतर रहती है, यह जानना शेष रह जाता है कि यह शक्ति, मनुष्य के अन्दर किस स्थान विशेष पर, केन्द्रित रहती है? इसका आधार क्या है? यह शक्ति मनुष्य के भीतर, उसकी आत्मा अथवा भौतिक स्थूल या सूक्ष्म शरीर मे, केन्द्रित है? कोई शक्ति बिना किसी आधार के विद्यमान नही रहती है। उष्णता, विद्युत, आकर्षण, प्रकाश आदि जितनी शक्तिया (Energies) है, उनके आधार प्राकृतिक स्थूल या सूक्ष्म पदार्थ होते है। उन्ही के सहारे, ये शक्तिया एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुच जाती है। इसलिये इस कर्म फल देनेवाली शक्ति का भी कोई आधार, मनुष्य के भीतर, अवश्य होना चाहिये।

इस कर्म फल देने वाली शक्ति का आधार, मनुष्य के भीतर, उसका आत्मा नही हो सकता, क्योकि आत्मा का स्वभाव ज्ञान व आनन्दमयी है और कर्म फल देनेवाली शक्ति का कार्य, उस आत्मा के ज्ञान, आनन्द आदि गुणो को, आच्छादित व विकृत करना है, जिसके कारण ज्ञान स्वरूप आत्मा, मनुष्य के भीतर, अल्प ज्ञानी वन जाता है एव उसका शाति, आनन्दमय स्वरूप, विकृत होकर, रागद्वेष आदि अनेक प्रकार की भावनाओ के रूप मे, प्रदर्शित होता है। इस भाति कर्म फल देनेवाली शक्ति का कार्य, आत्मा **के ज्ञान आनन्दमयी स्वरूप** को आच्छादित व विकृत करके, **अज्ञान व वासना युक्त बनाना है।** अत कर्म फल देनेवाली शक्ति का स्वभाव आत्मा के ज्ञान आनन्द स्वरूप के नितान्त विपरीत एव विरोधी है। यह पूर्व ही निश्चित किया जा चुका है कि कोई भी वस्तु, शीत उष्णता के सदृश, परस्पर विरोधी गुणो को, एक ही साथ, धारण नही कर सकती है। इस-

लिये आत्मा, अपने स्वरूप को विकृत एव आच्छादित करने वाली, कर्म फल देने वाली शक्ति का आधार नही बन सकता।

अतएव इस कर्म फल देने वाली शक्ति का आधार, मनुष्य में आत्मा से विभिन्न, शरीर आदि भौतिक पदार्थ को ही मानना होगा, जैसे उष्णता, विद्युत आदि शक्तियो का आधार प्राकृतिक पदार्थ है, उसी प्रकार कर्म फल देने वाली शक्ति का आधार भी प्राकृतिक पदार्थ ही है।

कर्म फल देने वाली शक्ति के कारण, जीव को उसके पूर्व कर्मो का फल मिलता है। यही शक्ति जीव को, शारीरिक मृत्यु होने के पश्चात्, एक योनि से दूसरी **योनि में, ले जाती** है। यही शक्ति, मनुष्य शरीर के निर्माण सम्बन्धी अनेक अवस्था एव जीवन सम्बन्धी अनेक बातो को, निर्धारित करती है। इस शक्ति के इन कार्यों से मानना पडता है कि यह शक्ति जीव के साथ, प्रत्येक दशा मे, विद्यमान रहती है। जब जीव एक योनि से दूसरी योनि मे जाता है, अर्थात् जब जीव, एक योनि मे धारण किये हुये भौतिक स्थूल शरीर को त्याग कर, दूसरी योनि मे अन्य भौतिक स्थूल शरीर को धारण करता है, उस शरीर परिवर्त्तन के समय मे भी, यह शक्ति उस आत्मा के साथ रहती है, यदि शरीर परिवर्तन के समय, यह शक्ति आत्मा के साथ न रहे, तो यह जीव एक योनि से दूसरी योनि मे नही जा सकता है और न इसको पूर्व योनिकृत कर्मों का फल, आगामी योनि मे ही, मिल सकता है। इससे सिद्ध होता है, कि कर्म फल देने वाली शक्ति को धारण करने वाले पुद्गल के परमाणु अत्यन्त सूक्ष्म है, जो, मनुष्य की मृत्यु के समय भौतिक स्थूल शरीर के पृथक् होने पर भी, नेत्रो से अदृष्ट हुये आत्मा के साथ साथ, एक योनि से दूसरी योनि मे, चले जाते है। ये परमाणु इतने सूक्ष्म है कि मृतिका आदि स्थूल पदार्थों के बने हुये गृह की दीवाल, छत आदि मे भी प्रवेश करके, सरलता-पूर्वक, आत्मा के साथ साथ, निकल जाते है।

इस विवेचन से इस परिणाम पर पहुचा जाता है कि कर्म फल देने वाली शक्ति के आधार, पुद्गल के सूक्ष्म परमाणु हैं और ये सूक्ष्म परमाणु, आत्मा के साथ, प्रत्येक दशा मे, रहते है। आत्मा, शरीर के किसी भाग मे, केन्द्रित नही है, वरन् सम्पूर्ण शरीर मे व्याप्त है। इसलिये कर्मफल देने वाली शक्ति के आधार, सूक्ष्म परमाणुओ को भी, आत्मा के साथ साथ, उस प्राणी के सम्पूर्ण शरीर मे ही, व्याप्त मानना होगा। दूसरे शब्दो मे, यह कहा जा सकता है कि कर्म फल देने की शक्ति धारक सूक्ष्म परमाणु, सूक्ष्म शरीर के रूप मे, आत्मा के साथ साथ, रहते है।

इसके अतिरिक्त, उपरोक्त विषय पर, जब विचार किया जाता है कि आत्मा सा अदृश्य, अमूर्त्तिक, सूक्ष्म पदार्थ किस प्रकार, स्थूल भौतिक शरीर मे, वधित व सीमित है, तो हृदय से ध्वनि निकलती है कि आत्मा से अमूर्त्तिक पदार्थ को, शरीर से स्थूल भौतिक पदार्थ मे, सीमित रखने के लिए, कोई न कोई सूक्ष्म शरीर, सूक्ष्म भौतिक परमाणुओ का बना हुआ होना चाहिये। इस अनुमान से भी, उपरोक्त अनुसन्धान से निश्चित किये हुये परिणाम की पुष्टि होती है।

सुगमता की दृष्टि से **'कर्म फल देनेवाली शक्ति'** को **'कर्म शक्ति'** 'कर्म फल देने वाली शक्ति के धारी परमाणुओं' को **'कर्म परमाणु'** या **'कर्म'**, कर्म फल देने की शक्तियुक्त परमाणुओ के समूह सूक्ष्म शरीर को **'सूक्ष्म शरीर'** या **'कार्माण शरीर'** के नाम से लिखना उचित होगा।

(ख) कर्मफल किस प्रकार मिलता है ?

इस सूक्ष्म शरीर को, प्राणी के द्वारा किये गये समस्त पूर्व कर्मों के फल देने की शक्ति से युक्त सूक्ष्म पुद्गल परमाणुओ का पुज मानना होगा। इसी सूक्ष्म या कार्माण शरीर को, एक योनि से दूसरी योनि मे ले जाने वाला, माता के गर्भ मे कलल से भ्रूण, भ्रूण से शिशु, युवक व वृद्ध करने वाला, शरीर सम्बन्धी अन्य बाते निर्धारित करने वाला, आत्मा की पूर्ण

ज्ञान शक्ति को आवृत करके अज्ञानी एव अल्पज्ञ बनाने वाला, आत्मा के शुद्ध आनन्द स्वरूप को विकृत करके काम क्रोध आदि भावना मे परिणत करने वाला आदि मानना होगा।

यह मान लेने से कि मनुष्य द्वारा किये गये समस्त पूर्व कर्मों के फल देने वाली शक्ति इस सूक्ष्म **कार्माण शरीर में** निहित है, यह निष्कर्ष निकलता है कि मनुष्य को जब उसके किसी पूर्व कर्म का फल मिल जाता है, तो उस कर्म से सम्बन्धित इस **कार्माण शरीर** के परमाणु, कर्म फल देने की शक्ति से, विहीन हो जाते है। कर्म शक्ति से विहीन होकर इन कर्म परमाणुओ की दशा साधारण परमाणु सदृश हो जाती है। साधारण परमाणु सदृश हो जाने से, इनका सम्बध सूक्ष्म कार्माण शरीर से छूट जाता है एव उससे पृथक् हो जाते है। इसी प्रकार मनुष्य जब नवीन कर्म करता है, तो उस कर्म के अनुसार फल देने वाली शक्ति, कुछ नवीन सूक्ष्म परमाणुओ मे, उत्पन्न हो जाती है और ये कर्म शक्ति युक्त परमाणु, उस मनुष्य के पूर्व से विद्यमान सूक्ष्म कार्माण शरीर मे प्रवेश करके सम्मिलित व सम्बन्धित हो जाते है।

उपरोक्त बात को, दूसरे शब्दो मे, यह कहा जा सकता है कि जैसे दो पदार्थों के परस्पर सघर्षण से, उष्णता शक्ति उत्पन्न हो जाती है, जो कुछ समय तक स्थित रह कर, आकाश मे लुप्त हो जाती है, या जैसे सिर के केशो मे सेलूलायड (Celluloid) का कघा करने से, कंघे मे आकर्षण शक्ति उत्पन्न हो जाती है, जिसके कारण, वह कघा रुई के बारीक तन्तुओ को आकर्षित करने लगता है। यह शक्ति कुछ समय तक उस कघे मे रहती है और फिर नष्ट हो जाती है। इसी प्रकार जब कोई व्यक्ति मन वचन या शरीर से कोई कार्य करता है, तो उसके समीपवर्त्ती चारो ओर के सूक्ष्म परमाणुओ मे हलन चलन क्रिया उत्पन्न हो जाती है[1]। ये पर-

---

[1] **विज्ञान के आविष्कार 'बेतार के तार'** (Wireless Telegraphy),

माणु आत्मा की ओर आकर्षित होते है, उनमे उस व्यक्ति के कर्मानुसार फल देने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है। इन कर्म शक्ति युक्त परमाणुओ का, एक क्षेत्रावगाह (एक क्षेत्र मे रहने वाला) सम्बन्ध, आत्मा के साथ हो जाता है एवं ये कर्मशक्तियुक्त परमाणु, पूर्व से विद्यमान सूक्ष्म शरीर मे, सम्मिलित हो जाते है। कुछ समय पश्चात्, जब ये कर्म परमाणु कार्यान्वित होते है, तो उनका प्रभाव उस व्यक्ति पर पडने लगता है; उसकी मनोवृत्ति मे अन्तर पड जाता है; राग द्वेष, काम क्रोध रूप भावना हो जाती है। ज्ञान शक्ति के विकास मे परिवर्तन हो जाता है, उसके शरीर की गति बदल जाती है, वाह्य पदार्थों के सयोग होने से, वह सुख या दुख अनुभव करने लगता है। इस प्रकार उस व्यक्ति को, अपने पूर्व कर्मों का फल मिलने लगता है। जब इन कर्म परमाणुओ की कर्म शक्ति कार्य करते करते समाप्त हो जाती है, तो ये कर्म परमाणु कर्मशक्ति विहीन हो जाते है एव इनका सम्बन्ध आत्मा तथा सूक्ष्म कार्माण शरीर से छूट जाता है।

उपरोक्त बाते जान लेने पर, यह जानना भी आवश्यक प्रतीत होता है कि प्राणियो के विचार, वचन या शरीर द्वारा कार्य करने मे कौन-सी विशेषता है कि जिससे सूक्ष्म परमाणुओ मे कर्मफल देने वाली शक्ति उत्पन्न हो जाती है और जिससे ये कर्म शक्ति युक्त परमाणु आत्मा के साथ सम्बन्धित हो जाते है। इस विशेषता को जानने के लिये विचार, वचन या शरीर द्वारा किये हुये कार्य का सूक्ष्म दृष्टि से अन्वीक्षण

रेडियो आदि के कार्य से निर्विवाद सिद्ध है, कि जब कोई कार्य करता है, तो उसके समीपवर्ती वायुमंडल में हलन चलन क्रिया उत्पन्न हो जाती है और उससे उत्पन्न लहरें चारों ओर को बहुत दूर तक फैल जाती है। इन्हीं लहरों के पहुंचने से शब्द, बिना तार के रेडियो द्वारा, एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुंच जाता है।

करना होगा। मनुष्य के कार्य को तीन अशों में विभक्त किया जा सकता है :—

(१) हलन चलन मात्र क्रिया—जो प्रत्येक व्यक्ति के शारीरिक कार्य करने, वचन बोलने या मस्तिष्क द्वारा विचारने पर, शरीर के किसी भाग या सम्बन्धित सूक्ष्म तन्तुओ (Nerves) मे हलन-चलन क्रिया के रूप मे होती है।

(२) विचारने, जानने मात्र क्रिया—जो विचारने पर मस्तिष्क द्वारा होती है।

(३) भावना मात्र क्रिया—रागद्वेष आदि भावनाओ मे से किसी एक या अधिक भावना का होना, जो प्राय: प्रत्येक मानसिक चेष्टा, वचन एव शारीरिक क्रिया के साथ पायी जाती है।

(१) मनुष्य का शरीर, मुख व मस्तिष्क भौतिक पदार्थों का बना हुआ है। शरीर के समस्त अवयव भौतिक पदार्थों से ही उत्पन्न होते है, अग्नि द्वारा भस्म किये जाने पर, भौतिक पदार्थों मे ही परिवर्तित हो जाते है। भौतिक पदार्थों मे हलन-चलन, परस्पर सघर्षण आदि होने से उष्णता, विद्युत आदि शक्तिया[1], वायुमडल मे लहरे आदि उत्पन्न होती है, परन्तु उनसे कर्म फल देने वाली शक्ति उत्पन्न होती हुई कभी दिखलाई नही देती। मनुष्य के शरीर, मुख व मस्तिष्क (जो भौतिक पदार्थ के बने है) के केवल हलन-चलन मात्र क्रिया से सूक्ष्म परमाणुओ मे—जो प्रत्येक स्थान मे भरे पडे है—हलन-चलन तो अवश्य होता है परन्तु उससे कर्म-शक्ति का उत्पन्न होना बुद्धि असगत है।

---

[1] विज्ञान की पुस्तकों से यह भलीभांति जाना जा सकता है कि भौतिक पदार्थों के हलन चलन से किस प्रकार उष्णता, डायनमो आदि यंत्रों के द्वारा विद्युत आदि शक्ति उत्पन्न की जाती है, कैसे वायुमंडल में लहरों द्वारा, शब्द से उत्पादित हलन चलन क्रिया, एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाती है।

(२) विचारना, जानना, अनुभव करना—ये सब ज्ञान के रूपान्तर है, ज्ञान आत्मा का स्वरूप है। यह पूर्व ही सिद्ध किया जा चुका है कि प्रत्येक व्यक्ति शक्ति रूप से सर्वज्ञ है। आत्मा की यह पूर्ण ज्ञान शक्ति, कर्म परमाणुओं के समूह सूक्ष्म कार्माण शरीर से आच्छादित होकर, कितने ही अंशों में अव्यक्त हो गई है, जिसके कारण मनुष्य अज्ञानी एवं अल्पज्ञ दिखलाई देता है। आत्मस्वभाव होने के कारण ज्ञान से, कोई भी कार्य आत्मस्वभाव के विपरीत सम्पादन नही हो सकता, न कोई शक्ति ही उसके विरुद्ध उत्पन्न हो सकती है, जैसे अग्नि का स्वभाव उष्ण होने के कारण, उष्णता से अपने स्वरूप विरुद्ध शीतलता उत्पन्न नहीं हो सकती है। कर्म शक्ति का कार्य आत्मा की ज्ञान आनन्द आदि शक्तियो का आच्छादन एवं आघात करना है, इसलिये कर्म शक्ति आत्म-स्वरूप ज्ञान से उत्पन्न नही हो सकती।

इस प्रकार कार्य के तीन अशो मे से, प्रथम दो अंश—हलन-चलन मात्र क्रिया एवं विचारने मात्र क्रिया—से कर्म शक्ति उत्पन्न नहीं होती है, इसलिये कार्य के तृतीय अश, भावना को ही कर्म शक्ति का उत्पादक मानना होगा। इस विवेचन से यह परिणाम निकलता है कि मन, वचन या शरीर द्वारा कार्य करने के समय, किसी व्यक्ति की रागद्वेष, काम, क्रोध, मद, लोभ, परोपकार, दया आदि भावनाओं में से जैसी भावना होती है, उसी भावना के अनुसार, समीपवर्ती सूक्ष्म परमाणुओं में, कर्म फल देने वाली शक्ति, उत्पन्न हो जाती है। भावनाये अनेक प्रकार की होती है, इसलिये कर्म परमाणुओ मे भी विभिन्न प्रकार के कर्म फल देने वाली शक्ति, इसी प्रकार उत्पन्न हो जाती है, जैसे रेडियो द्वारा ब्राडकास्ट करने पर, शब्द जितने प्रकार के होते है, उन्हीं के अनुसार, वायुमडल की लहरों में, विभिन्नता उत्पन्न हो जाती है, जिसके द्वारा शब्द सहस्रों मील तक, उसी दशा में पहुँच जाते हैं।

इन कर्म परमाणुओ का एक क्षेत्रावगाह (एक ही स्थान में रहने

वाला) सम्बन्ध आत्मा के साथ हो जाता है। यदि उस व्यक्ति के, किसी समय, काम-क्रोध आदि रूप किसी प्रकार की भी भावना न हो एव वह अपनी शुद्ध, शान्ति, आनन्दमय अवस्था मे मग्न हो, तो उस समय समीपवर्त्ती सूक्ष्म परमाणुओ मे, किसी प्रकार की भी कर्म शक्ति उत्पन्न नही होगी। इन कर्म परमाणुओ के आगमन, पृथक्करण आदि प्रणाली को पाच भागो[1] मे विभक्त किया जा सकता है :—

(१) आस्रव—किसी व्यक्ति के मन, वचन या शरीर द्वारा कार्य करने पर समीपवर्त्ती सूक्ष्म परमाणुओ मे हलन-चलन उत्पन्न होकर आत्मा की ओर आकर्षित होना एव उनमे कर्म शक्ति का उत्पन्न होना।

(२) बध—उपरोक्त कर्म शक्ति युक्त परमाणुओ का आत्मा के साथ एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध होना।

(३) सम्वर—उस व्यक्ति का, किसी समय रागद्वेष आदि भावना से विमुक्त रहने पर, शुद्ध शान्त आनन्द स्वरूप मे विराजमान होना, जिससे उस समय समीपवर्त्ती सूक्ष्म परमाणुओ मे न कर्म शक्ति उत्पन्न हो और न वे सूक्ष्म परमाणु, कर्म परमाणु की अवस्था मे परिवर्त्तित होकर, आत्मा की ओर आकर्षित हो।

(४) निर्जरा—कर्म परमाणुओ का कार्य रूप मे परिणत होकर अर्थात् कर्मफल देकर, कर्म शक्ति से विहीन होकर आत्मा से पृथक् हो जाना।

---

[1] भारत के दार्शनिकों में से, केवल जैन दर्शन ने कर्मसिद्धान्त का विवेचन, विशद रूप से किया है। जैन दर्शन ने आस्रव, बन्ध, सम्वर, निर्जरा व मोक्ष शब्दों का प्रयोग उपरोक्त अर्थ में किया है। इसके अतिरिक्त इन शब्दों से आशय भी स्पष्ट प्रगट होता है, इसलिये इन शब्दों का प्रयोग उपरोक्त अर्थ में उचित समझ कर, यहां किया गया है।

(५) मोक्ष—उस व्यक्ति की आत्मा कर्म परमाणुओ के समूह कार्माण शरीर से वद्ध है, उन समस्त कर्म परमाणुओ के समूह सूक्ष्म कार्माण शरीर से सर्वथा मुक्त हो जाना।

इन कर्म परमाणुओ के समूह कार्माण शरीर ने ही, मनुष्य की आत्मा को, बन्धन मे कर रखा है। इन्ही कर्म परमाणुओ ने जीव के वास्तविक स्वरूप अनन्त ज्ञान, दर्शन, असीम आनन्द एवं अनन्त शक्ति को अधकार सदृश आच्छादित कर रखा है, जिसके कारण अनन्त ज्ञान, दर्शन व शक्ति मनुष्य आदि प्राणियों मे आच्छादित होकर अल्प ज्ञान, दर्शन व शक्ति के रूप मे दिखलाई देती है, तथा आत्मा का सुख शान्ति स्वरूप विकृत होकर, रागद्वेष आदि भावना के रूप मे प्रदर्शित होता है। मृत्यु होने पर, इन्ही कर्म परमाणुओ का सूक्ष्म कार्माण शरीर मनुष्य की आत्मा को दूसरी योनि मे ले जाता है। इन्ही कर्म परमाणुओ की शक्ति के कारण, जीव नवीन शरीर धारण करता है एव धीरे धीरे वृद्धि करता हुआ शिशु, बाल्य. युवा व वृद्ध अवस्था तक पहुचता है। यही कर्म शक्ति जीव की आयु निर्धारित करती है एव उसको आयु पर्यन्त स्थिर रखती है। यही कर्म शक्ति, मनुष्य शरीर को सबल, सुगठित, स्वस्थ आदि सुन्दर अथवा निर्बल, रोगी आदि कुरूप बनाती है। इसी कर्म शक्ति के कारण वाह्य पदार्थों का सयोग होता है, जिनके कारण, मनुष्य सुख, दु.ख अनुभव करता है। इस प्रकार इस कर्म शक्ति द्वारा, मनुष्य के जीवन सम्बन्धी अनेक बाते निर्धारित होती है।

मनुष्य जब भोजन करता है, तो वह भोजन आमाशय मे जाकर पाचन क्रिया द्वारा, रक्त, मास, आदि सप्त धातुओ मे परिवर्त्तित हो जाता है और उसका फालतू अंश मल, मूत्र के रूप मे, शरीर से बाहर निकल जाता है। उसी प्रकार जब मनुष्य मन, वचन या शरीर द्वारा कोई कार्य करता है, तो उसकी भावना अनुसार, समीपवर्त्ती सूक्ष्म परमाणुओं मे, कर्म शक्ति अनेक प्रकार की उत्पन्न हो जाती है। इन विभिन्न कर्म शक्ति युक्त

परमाणुओ को मुख्यतया निम्न लिखित आठ भेदों मे विभक्त किया जा सकता है :—

(१) ज्ञानावरणीयकर्म[1]—कर्म शक्तियुक्त परमाणुओ में से वे परमाणु, जिन्होंने आत्मा के समस्त पदार्थ के पूर्णतया जानने की ज्ञान शक्ति को, इस प्रकार आच्छादित कर दिया है, जिस प्रकार मेघ पटल सूर्य प्रकाश को आच्छादित कर देते है। जितना जितना मेघपटल का आवरण अधिक होता है, उतना ही सूर्य का प्रकाश कम दिखालाई देता है। जितना आवरण हल्का होता है, उतना ही प्रकाश अधिक आता है। यही दशा ज्ञान को आवृत करने वाले ज्ञानावरणीय कर्म की है, जितना आवरण इस कर्म का अधिक होगा, उतना ही ज्ञान मनुष्य मे कम दिखलाई देगा और जितना आवरण इस कर्म का हल्का होगा, उतना ही अधिक ज्ञान उसमे पाया जावेगा।

(२) दर्शनावरणीय[1] कर्म—कर्म शक्तियुक्त परमाणुओं मे से वे कर्म परमाणु, जिन्होने आत्मा के अनन्त दर्शन स्वरूप को ढक दिया है, जिसके कारण, आत्मा के समस्त पदार्थों के अवलोकन की शक्ति, आवृत होकर, साधारण अवलोकन मात्र, प्राणियो मे पायी जाती है, दर्शन गुण के सीमित होने से, ज्ञान प्राप्ति का द्वार बन्द हो जाता है, इस कर्म की तुलना शासक के उस ड्योढीवान के साथ की जा सकती है, जो शासक के साथ किसी व्यक्ति के मिलने मे अडचन डालता है। यदि ड्योढीवान उस व्यक्ति को अन्दर जाने की आज्ञा न दे, तो वह शासक से नहीं मिल सकता है। यही दशा दर्शनावरणीय (दर्शन पर आवरण करने वाले) कर्म की है।

---

[1] ज्ञानावरणीय कर्म, दर्शनावरणीय कर्म, मोहनीय कर्म, अन्तराय कर्म, नाम कर्म, गोत्र कर्म, आयु कर्म, वेदनीय कर्म, घाति व अघाति कर्म शब्दों का प्रयोग, जैन दर्शन ने उपरोक्त अर्थ में किया है और इनका आशय भी स्पष्ट है, इसलिये इन शब्दों का प्रयोग, यहां पर भी किया गया है।

(३) मोहनीय[1] कर्म—कर्म शक्तियुक्त परमाणुओं में से वे परमाणु, जिन्होंने आत्मा के शान्ति सुख स्वभाव को विकृत करके, मोह उत्पन्न कर दिया है, जिसके कारण, यह शान्ति, आनन्दमय स्वरूप विकृत होकर, काम-क्रोध, रागद्वेष, प्रेम, परोपकार आदि भिन्न भिन्न भावनाओं के रूप मे प्रदर्शित होता है। इस मोहनीय कर्म की दशा मदिरा के समान है। जैसे मदिरा बुद्धिमान व्यक्ति की बुद्धि भ्रष्ट करके मूढ एव बेसुध बना देती है, जिससे उसकी विवेक बुद्धि नष्ट हो जाती है, माता बहिन व पत्नी मे अन्तर नही समझता है, उसी प्रकार यह कर्म आत्मा के सुख शान्तिमय स्वभाव को विकृत करके, उसमे मोह उत्पन्न कर देता है, जिसके कारण आत्मा अपने स्वरूप को भूल जाता है, अपने स्वरूप से सर्वथा भिन्न (अपने) शरीर एवं अन्य स्त्री, पुत्र आदि चेतन, गृह, भूमि, धन, धान्य आदि अचेतन पदार्थों मे ममत्व बुद्धि धारण करता है। उनको अपना समझता है एवं पोषित करता है। ससार के संघर्ष मे पडता है, जिसके कारण काम-क्रोध आदि अनेक प्रकार की भावनायें उसमे उत्पन्न होती है।

(४) अतराय[1] कर्म—कर्म शक्ति युक्त परमाणुओं मे से वे परमाणु, जो ज्ञान, दर्शन व आनन्द स्वरूप के अतिरिक्त, आत्मा के अन्य प्रकार के सामर्थ्य को प्रगट नही होने देते हैं। उसकी वीर्य शक्ति के प्रगट होने में अन्तराय का कार्य करते है। इस कर्म के कारण, आत्मा का सामर्थ्य केवल कुछ अशो मे प्रतिभासित होता है। मनुष्य मे संकल्प शक्ति, साहस, वीरता आदि की अधिकता या न्यूनता इस कर्म पर निर्भर है।

उपरोक्त ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, अन्तराय चार कर्मोंको **घातिकर्म** के नाम से पुकार सकते हैं, क्योंकि इनसे आत्मा का वास्तविक स्वरूप घात होता है, जिसके कारण आत्मा का अनन्त ज्ञान,

---

[1] **मोहनीय, अन्तराय शब्दों के सम्बन्ध में पिछले पृष्ठ के फुटनोट को देखो—**

दर्शन व वीर्य आच्छादित होकर कुछ अशो मे प्रगट होता है, एव आत्मा का शान्त आनन्द स्वरूप विकृत होकर, काम, क्रोध आदि अनेक भावनाओं के रूप मे प्रदर्शित होता है।

(५) नामकर्म[1]—कर्मशक्तियुक्त परमाणुओ मे से वे परमाणु, जिनका कार्य, जीव को एक योनि से दूसरी योनि मे ले जाना है। जिस कर्मशक्ति से युक्त हुआ आत्मा, शारीरिक मृत्यु होने पर, वर्तमान शरीर को छोडकर, दूसरी योनि मे, समस्त सचित कर्म परमाणुओ के उपयुक्त उत्पत्ति स्थान की ओर आकर्षित होकर, इस भांति चला जाता है, जैसे चुम्बक की आकर्षण शक्ति द्वारा खिचकर, लोहा उसकी ओर चला जाता है। जिस कर्मशक्ति से युक्त हुआ आत्मा गर्भ मे पहुच कर, कलल, भ्रूण, अवस्थाओं मे होता हुआ शिशु के रूप मे जन्म लेता है, फिर विकास के रूप मे वृद्धि करता-करता बालक, युवा अवस्थाओ मे होता हुआ, वृद्ध दशा को प्राप्त होता है। साराश मे वे कर्म परमाणु, जिनसे जीव की योनि एव उस योनि सम्बन्धी शरीर की अनेक प्रकार की बनावट निश्चित होती है। इस कर्म की दशा उस चित्रकार के सदृश है, जो मनुष्य, पशु आदि प्राणियो के नाना प्रकार के चित्र खीचता है, जिनको अनेक नामो से पुकारा जाता है।

(६) गोत्रकर्म[1]—कर्मशक्ति परमाणुओ मे से वे परमाणु, जो जीव की—जब वह किसी योनि मे जन्म लेता है—स्थिति को निर्धारित करता है, जिसके कारण वह जीव ऐसे देश, जाति, परिवार, गोत्र आदि मे उत्पन्न होता है कि जहा उत्पन्न होने के कारण ही, वह उच्च या नीच समझा जाता है या वे कर्म परमाणु—जो जीवन मे उसके आचरण अनुसार—ऊँच, नीच का बोध कराते है।

---

[1] नाम, गोत्र, आयु, वेदनीय कर्म के सम्बन्ध में फुटनोट पृष्ठ ११० पर देखो।

(७) आयुकर्म[1]—वे कर्म परमाणु, जो जीव की आगामी योनि के लिये, आयु निश्चित करते है, जिनके कारण प्राणी, उस योनि में प्राप्त हुए शरीर मे, कैद रहता है। आयुकर्म के समाप्त होने पर, प्राणी उस विशेष योनि को त्याग कर, उपरोक्त नाम कर्म के अनुसार, आगामी योनि मे, चला जाता है एव जाकर जन्म धारण कर लेता है।

(८) वेदनीयकर्म[1]—वे कर्म परमाणु, जिनके कारण, मनुष्य, पशु आदि प्राणियो को, भोजन, वस्त्र आदि आवश्यक सामग्री प्राप्त होती है, जिसके कारण मनुष्य को विपुल धन सम्पत्ति, नाना प्रकार के वाहन आदि ऐश्वर्य अथवा भोग विलास के सामान का सयोग होता है या उसको धन-हीन, दीन अवस्था प्राप्त होती है, जिसमे रहने से, वह व्यक्ति सुख या दुख की वेदना का अनुभव करता है या जिसके कारण उसका शरीर स्वस्थ या रोग व्याधि युक्त होता है, जिससे उस मनुष्य को सुख या दुख का अनुभव होता है।

उपरोक्त नाम, गोत्र, आयु वेदनीय चार कर्मों को **अघाति[2] कर्म** के नाम से पुकार सकते है, क्योंकि इनसे आत्मा के वास्तविक स्वरूप का आघात, आवरण या विकार तो उत्पन्न नही होता, परन्तु इनसे प्राणियो की भिन्न-भिन्न योनि, भिन्न-भिन्न अवस्थाये एव परिस्थिति निर्धारित होती है, जिस परिस्थिति मे जीव के रहने के कारण ही उपरोक्त घातिकर्म (ज्ञानवरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय व अन्तराय) अपना कार्य कर सकते है।

---

[1] **आयु, वेदनीय कर्म के सम्बन्ध में फुटनोट पृष्ठ ११० पर देखो।**

[2] **अघाति कर्म—अघाति दो शब्द अ+घाति से बना है "अ" का अर्थ संस्कृत भाषा में नहीं या किंचित होता है, यहां पर 'अ' से तात्पर्य किंचित का है। अतः अघाति कर्म का अर्थ किंचित घात करने वाला कर्म होता है।**

उपरोक्त कर्म परमाणुओ के आठ भेदो के वर्णन से स्पष्ट है कि ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय व अन्तराय कर्मों ने आत्मा के ज्ञान, दर्शन एव वीर्य स्वाभाविक गुणों को आच्छादित कर रखा है, जिनके कारण मनुष्य मे किंचित ज्ञान, दर्शन व सामर्थ्य पाया जाता है। मोहनीय कर्म ने आत्मा के शान्त-आनन्द स्वरूपको विकृत कर दिया है, जो विकृत होकर काम, क्रोध आदि भावनाओ के रूप मे दिखलाई देता है। नाम कर्म से जीव एक योनि से दूसरी योनि मे जाता है। एव उसके शरीर आदि का निर्माण होता है। गोत्र कर्म से ऐसी परिस्थिति मे उत्पन्न होता है या ऐसा आचरण करता है, जिसके कारण उच्च या नीच समझा जाता है। आयुकर्म से आयु नियत होती है। वेदनीय कर्म से सुख या दुख की सामग्री का सयोग स्वस्थ या अस्वस्थ शरीर प्राप्त होता है।

इन बधे हुए कर्मों की दशा मदिरा के तुल्य है। जब कोई व्यक्ति मद्यपान करता है, तो कुछ समय पश्चात्, उसका नशा चढ जाता है, जिससे उसकी बुद्धि, भ्रष्ट होकर, भ्रम रूप हो जाती है और वह व्यक्ति अनेक प्रकार के रौद्र एव अनुचित कार्य करता है। ठीक यही दशा इन बधे हुए कर्मों की है। बन्धन के कुछ समय पश्चात्, ये कर्म कार्यान्वित होते है, अर्थात् इनका फल मिलने लगता है। उस समय इनका प्रभाव मनुष्य पर पडता है। उसकी स्वच्छ बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, काम, क्रोध आदि रूप उसकी भावना हो जाती है, जिसके वशीभूत हुआ, वह अनेक पकार के रौद्र एव अनुचित कार्य करता है, बाह्य पदार्थों मे ममत्व धारण करके, किसी से प्रेम और किसी से द्वेष करता है आदि-आदि।

ये कर्म किसी व्यक्ति को रुपया पैसा कोठारी के समान तो नही देते है, वरन् उसके प्राप्त या अप्राप्त होने मे कारण होते है। प्रायः देखा जाता है कि एक ही व्यवसाय को कितने ही मनुष्य करते है। कुछ मनुष्य तो उसमे सफल होकर धन सचय कर लेते है, किन्तु कुछ व्यक्ति, जो काफ़ी बुद्धिमान हैं और जो काफी परिश्रम से कार्य करते हैं, उसी व्यवसाय में

नष्ट व दिवाला निकालते हुए देखे जाते है। लाभ व हानि भी सब व्यापारियों को एकसी नही होती है। यह अन्तर इन्हीं कर्मों के कारण होता है।

यदि किसी व्यक्ति को, उसके कर्मानुसार, लाभ होना है, तो व्यापार मे उसको लाभ हो जाता है और यदि हानि होनी है, तो हानि हो जाती है। यदि कोई व्यक्ति किसी प्रकार का व्यवसाय नही कर रहा है और उसके तीव्र पुण्य कर्म का उदय आया है, जिसके फलस्वरूप धन सम्पत्ति प्राप्त होनी चाहिये। ऐसी अवस्था मे उसको अकस्मात् वसीयत, लाटरी आदि से धन प्राप्त हो जावेगा अथवा उसकी प्रवृत्ति किसी व्यापार करने की हो जावेगी, जिसमे उसको अतुल धन की प्राप्ति होगी। यदि उसके मन्द पुण्य कर्म का उदय आया है और वह व्यक्ति किसी प्रकार का व्यवसाय भी नही कर रहा है, तो यह सम्भव है कि उसको लाभ तनिक भी न हो और उसका वह मन्द पुण्य कर्म, उपयुक्त कारण न मिलने से, बिना फल दिये हुए ही, नष्ट हो जावे। यही दशा अशुभ कर्मों के उदय की है। इस प्रकार मनुष्य के पूर्व कर्मों का फल मिलना, बहुत कुछ उपयुक्त साधनो के मिलने पर ही, निर्भर रहता है।

मान लो कोई जीव, पशु योनि मे, शरीर धारण किये हुए है और उसके ज्ञानावरणीय कर्म का मन्द उदय आया है, जिसका प्रभाव यह होना चाहिये कि उसके वास्तविक ज्ञान का--जो ज्ञानावरणीय कर्म से आवृत था--विकास अधिक हो। परन्तु पशु योनि के कारण, उस जीव की परिस्थिति ऐसी है कि उसके ज्ञान गुण का विकास अधिक नही हो सकता है। ऐसी परिस्थिति मे, उस ज्ञानावरणीय कर्म का मन्द उदय, बिना फल दिये हुए ही, नष्ट हो जावेगा। या मान लो उस पशु योनिधारी जीव के ऐसे कर्मों का उदय आया है कि जिनके कारण, उसकी प्रवृत्ति दया, परोपकार आदि शुभ कार्यों की ओर हो। पशु योनि के कारण, परिस्थिति ऐसी है कि वह दया, परोपकार आदि कार्यों में प्रवृत हो नही सकता है।

ऐसी अवस्था मे, उपरोक्त कर्मों के फल का कोई प्रभाव नही पडेगा और वे कर्म, बिना फल दिये हुए ही, नष्ट हो जावेंगे ।

उपरोक्त विवेचन से, इस परिणाम पर पहुचा जाता है कि कर्म परमाणु कार्यान्वित होने पर, अनुकूल परिस्थिति मे ही, पूरा फल देते है । यदि परिस्थिति बिल्कुल विपरीत होती है, तो वे कर्म परमाणु, बिना फल दिये हुए ही, नष्ट हो जाते है और यदि परिस्थिति कुछ विपरीत और कुछ अनुकूल होती है, तो उन कर्मों का फल भी पूरा नही मिलता है, अधूरा ही रहता है । इस प्रकार पूर्व सचित कर्मों का फल मिलना, बाह्य साधन व परिस्थिति पर, कितने ही अंशो में, निर्भर रहता है ।

मनुष्य जब मदिरा पीता है, तो उसे नशा हो जाता है । किसी मदिरा का नशा तत्काल ही हो जाता है, किसी का घटे दो घटे बाद । किसी मदिरा का नशा तीव्र होता है, किसी का मन्द । किसी का नशा घटा भर रहता है किसी का अधिक देर तक । ठीक इसी प्रकार मनुष्य, जब मन, वचन या शरीर द्वारा कार्य करता है, तो उसकी भावना के अनुसार, सूक्ष्म परमाणुओ मे कर्मशक्ति उत्पन्न हो जाती है । ये कर्मशक्तियुक्त परमाणु, कुछ समय पश्चात्, कार्य रूप मे परिणत होते है, अर्थात् इन कर्म परमाणुओ का फल मिलने लगता है । मदिरा के नशे की भाति, कुछ कर्म परमाणुओ का प्रभाव तत्काल होने लगता है, कुछ का कुछ दिन, महीने, वर्ष बाद । मदिरा के नशे की भाति, कुछ कर्मों का प्रभाव तीव्र होता है और कुछ का मन्द । कुछ कर्मों का प्रभाव अधिक समय तक रहता है और कुछ का थोडे समय तक ।

उपरोक्त विवेचन से प्रगट है कि प्राणी के मन, वचन या शरीर द्वारा कार्य करने से, उसकी उस समय की भावना के अनुसार, समीपवर्त्ती सूक्ष्म परमाणुओ मे कर्मशक्ति उत्पन्न हो जाती है और इन परमाणुओ का आत्मा के साथ सम्बन्ध हो जाता है । इन कर्म परमाणुओ के कार्य रूप मे परिणत होने से, उस व्यक्ति को अपने पूर्वकृत कर्मों का फल मिलने लगता

है, उसकी मनोवृत्ति बदल जाती है, काम, क्रोध आदि रूप अनेक प्रकार की भावना उत्पन्न होती है, जिसके कारण वह व्यक्ति फिर नवीन कार्य करता है। इस नवीन कार्य एवं भावना से, वह फिर नवीन कर्म परमाणुओं से बधता है। इस प्रकार कार्य और कारण की शृंखला (Chain of cause and effect) अक्षुण्ण चलती रहती है और जीव कर्म-बन्धन से आबद्ध, अनेक योनियों मे जन्म लेता हुआ, अनादि काल से इस ससार मे भ्रमण करता हुआ चला आता है।

(३) दार्शनिकों के मत

प्राणियो के पूर्वकृत कर्मो के फल मिलने के सम्बन्ध मे, उपरोक्त कर्म सिद्धान्त के निश्चय होने पर, यह जानना अनुचित न होगा कि इस सम्बन्ध मे प्रचलित धर्मों के दार्शनिको के क्या मत है। इनके विवेचन से, कितना ही प्रकाश, अनुसन्धान द्वारा निश्चित, उपरोक्त कर्म सिद्धान्त की सत्यता पर पडेगा।

(क) ईसाई व इस्लाम दर्शनो के मत

ईसाई व इस्लाम के दार्शनिको की धारणा है कि ईश्वर ने इस जगत का निर्माण किया है, वही समस्त प्राणि समाज की रचना करता है, इस जगत मे उत्पन्न होने से पहिले, इन प्राणियों के व्यक्तित्व का कोई पृथक अस्तित्व न था, शारीरिक मृत्यु होने पर मनुष्य न्यायदिवस (Judgment day) की प्रतीक्षा मे रहते है। न्याय के दिन ईश्वर इन मृत आत्माओ के, मनुष्य जन्म मे किये हुए कर्मो का निपटारा करता है। जिन मृत आत्माओ ने, मनुष्य जन्म मे, पुण्य कर्म किये है, उनको स्वर्ग मे भेज देता है, जहा अनन्त काल तक अप्सराओ के साथ भोग विलास करते हुए सुख मे मस्त रहते हैं। जिन मृत आत्माओ ने, मनुष्य जन्म मे, पाप कर्म किये है, उनको सदा के लिये नरक मे डाल देता है, जहा वे नाना प्रकार के दुख पाते रहते है।

इस धारणा में, अनुसन्धान द्वारा निश्चित उपरोक्त कर्मसिद्धान्त का, न कोई स्थान है और न हो ही सकता है; क्योंकि इन धर्मों ने विद्यमान समस्त प्राणी समाज का रचयिता एक ईश्वर मान लिया है, जो सम्पूर्ण प्राणियो के कार्यों की सूचना रखता है और जो न्याय के दिन मृत आत्माओ को, उनके पुण्य अथवा पाप कर्मों के अनुसार, सदा के लिये स्वर्ग या नरक मे भेज देता है।

(ख) भारतीय दार्शनिकों के मत

भारत मे जितने भी धर्म प्रचलित हुए है, उन सब धर्मों के दार्शनिको ने यही माना है कि जो जैसा करता है, उसको उसका फल अवश्य भोगना पडता है। यह जीव, अपने पूर्वकृत कर्मों के अनुसार, एक योनि से दूसरी योनि को जाता है। इन्ही के कारण इसको सुख दुख मिलता है। जो कर्म मनुष्य करता है, उसका फल उसको अवश्य मिलता है। आज के कर्म का फल उसको कल भोगना पडता है और कल का परसो, इतना ही नही, किन्तु जो कर्म इस जन्म मे किया जाता है, उसका फल अगले जन्म मे भी भोगना पडता है। भारतीयो की साधारण धारणा है कि 'जैसी करनी वैसी भरनी'। वैदिक धर्मानुयायी समस्त दर्शनो की (उनकी भी जो ईश्वर को कर्मफलदाता मानते है) यही मान्यता है कि प्राणी को अपने कर्मों का फल अवश्य भोगना पडता है। महाभारत (शान्तिपर्व २४०-७) मे कहा है :—

कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया तु प्रमुच्यते।

अर्थात प्राणी अपने कर्मों के द्वारा बध जाता है और ज्ञान के द्वारा छूट जाता है, यही बात भगवत्गीता (५-१५) मे कही है :—

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यति जंतवः॥

अर्थात—ईश्वर न किसी का पाप लेता है और न पुण्य ही। ज्ञान पर अज्ञान का परदा पडा हुआ है, जिसके कारण प्राणीसमाज मे मोह उत्पन्न होता है।

(ग) सांख्य व वेदान्त दार्शनिकों के विशेष मत

इनकी धारणा है कि प्रत्येक सासारिक आत्मा के साथ प्रकृति के सूक्ष्म परमाणुओ का बना हुआ एक सूक्ष्म शरीर रहता है, जिसको ये **'लिंग शरीर'** या **'सूक्ष्म शरीर'** कहते हैं। मनुष्य जो कर्म करता है, उसका संस्कार इस सूक्ष्म शरीर मे रहता है। जितने कर्म मनुष्य ने पूर्व या इस जन्म मे किये है और जिनका फल उसने अभी तक नही भोगा है, उनके कर्म सस्कार इस सूक्ष्म शरीर मे रहते है। इन कर्म सस्कारो से युक्त लिंग शरीर ही मनुष्य को **एक योनि से दूसरी योनि में ले जाता है**। माता के गर्भ मे, कलल अवस्था से लगाकर वृद्ध अवस्था पर्यन्त, यही 'लिग शरीर' उस व्यक्ति के शरीर की वृद्धि करता है। उसको अपने पूर्व कर्मों का फल भोगना पड़ता है। इन दार्शनिकों ने इन बधे हुए कर्म सस्कारो के तीन भेद किये है :—

(१) सचित कर्म—वे समस्त कर्म जो मनुष्य ने पूर्व या इस जन्म मे बाधे हैं और जिनका फल अभी तक मिलना प्रारम्भ नही हुआ है, इस सचित कर्म को 'अदृश्य कर्म' भी कहा है।

(२) प्रारब्ध कर्म—वे कर्म जिनका फल मिलना प्रारम्भ हो गया है। इसको आरब्ध कर्म भी कहा है।

(३) क्रियमाण कर्म—वह कर्म जो अभी किया जा रहा है, यह केवल वर्तमान काल सूचक है।

श्री वादरायण आचार्य ने कर्मभोग के सम्बन्ध मे वेदान्तसूत्र (४-१-१५) मे केवल दो ही भेद किये हैं :—

(१) प्रारब्ध कर्म—वे कर्म जिनका फल भोगना प्रारम्भ हो गया है।

(२) अनारब्ध कर्म—वे कर्म जिनका फल भोगना अभी प्रारम्भ नही हुआ है।

इन दार्शनिकों का मत है कि जिन कर्मों का फल मिलना प्रारम्भ हो जाता है, उन कर्मों का फल उस व्यक्ति को अवश्य भोगना पडता है :—

"प्रारब्धकर्मणां भोगादेव क्षयः।"

प्रारब्ध कर्म का फल व्यक्ति को पूर्णतया भोगना पडता है, बीच मे क्षय नही किया जा सकता। जैसे हाथ से छूटा हुआ वाण अन्त तक चला जाता है, न बीच में रुकता है और न लौटकर आता है। परन्तु अनारब्ध कर्म की दशा ऐसी नही होती, वह ज्ञान के द्वारा नष्ट किया जा सकता है। बिना भोगे ही उसका क्षय किया जा सकता है।

साख्यदर्शन ने लिग शरीर को प्रकृति के निम्नलिखित १८ सूक्ष्म-तत्वो का बना हुआ माना है :—महत (बुद्धि), अहकार, मन, पांच ज्ञानेन्द्रिया, पाच कर्मेन्द्रिया और पाच तन्मात्राये। वेदान्तदर्शन ने लिग शरीर को उपरोक्त १८ तत्वो के अतिरिक्त उन्नीसवे चित्त (जिसमे अनेक प्रकार की भावनाये रहती है) तत्व का भी बना हुआ माना है। ये तत्व सूक्ष्म प्रकृति के बने हुए है। इनमे से प्रथम तेरह तत्वो को प्रकृति के गुण भी कह सकते है, परन्तु अन्तिम शब्द, रूप, स्पर्श, रस, गन्ध पच तन्मात्राये प्रकृति के सूक्ष्म परमाणुओ की बनी हुई है। इस प्रकार इस लिंग शरीर को, प्रकृति के सूक्ष्म परमाणुओ का बना हुआ, माना है, जो सदैव सासारिक आत्मा के साथ रहता है। जब मनुष्य ज्ञान द्वारा सचित कर्मों का नाश कर देता है, तब यह 'लिग' या 'सूक्ष्म शरीर' भी आत्मा से पृथक हो जाता है और आत्मा कर्मबन्धन से मुक्त होकर, कैवल्य पद को प्राप्त हो जाता है।

किसी व्यक्ति के, किसी कार्य करने मे, उस कार्य के फलस्वरूप जो

कर्म सस्कार उसके लिंग शरीर मे पडते है, अर्थात जो कर्मबन्धन वह व्यक्ति करता है, उसके कारण उस व्यक्ति की राग द्वेष रूप प्रवृत्ति होती है। जैसी-जैसी उस व्यक्ति के काम क्रोध आदि भावनाये, कार्य करने के समय होती है, वैसा ही वह व्यक्ति कर्मबन्धन करता है। यदि उस व्यक्ति के किसी कार्य करते समय बिल्कुल शुद्ध भाव हों, कोई आसक्ति कार्य में न हो, कार्य को पूर्ण निष्काम भाव से करे, तो उस कार्य के फलस्वरूप वह किसी कर्मबन्धन मे नही फसता है। मैत्र्युपनिषद (६-३४) मे कहा है :—

मन एव मनुष्याणां कारण बन्धमोक्षयो।
बन्धाय विषयासंगि मोक्षे निर्विषयं स्मृतम् ॥

अर्थात मनुष्य के (कर्म से) बन्धन या मोक्ष का कारण मन ही है। मन के विषयासक्त होने से बन्धन और निष्काम, निर्विषय एव अनासक्ति होने से मोक्ष होता है। भगवतगीता मे तो इसी बात का प्रतिपादन किया गया है कि विषयासक्त होने, फल की आशा से कर्म करने अथवा राग द्वेष रूप प्रवृत्ति होने से, मनुष्य कर्मबन्धन करता है। निष्काम कर्म करने से न उसके किसी प्रकार का कर्मबन्धन होता है और न वह किसी पाप का भागी होता है। श्री भगवद्गीता (४-२०, २१, २२) मे कहा है :—

त्यक्त्वा कर्मफलासंगं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः ॥
निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्त सर्व परिग्रहः ।
शरीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम् ॥
यदृच्छालाभ सन्तुष्टो द्वंद्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबद्ध्यते ॥

अर्थात—'कर्मफल' की आसक्ति छोड़कर, जो सदा तृप्त और निराश्रय है (यानी जो पुरुष कर्म को बिना फलाशा के सदा तृप्त हुआ करता है)—कहना चाहिये—वह कर्म करते हुए भी कुछ नही करता है। फल

की वासना का त्याग करने वाला (निराशी), चित्त को नियत्रित रखने वाला, सर्व परिग्रह से मुक्त (यानी आसक्ति से मुक्त) पुरुष, केवल शरीर एव कर्मेन्द्रियो से कर्म करता हुआ भी, पाप का भागी नही होता है। जो यदृच्छा से प्राप्त हो जावे, उसमें सन्तुष्ट, हर्ष, शोक आदि द्वन्दो से मुक्त, अभिमान शून्य, कार्य की सिद्धि अथवा असिद्धि में समता रखने वाला पुरुष, कर्म करता हुआ भी, पाप अथवा पुण्य से बद्ध नही होता है।

पूर्व मीमासा के कुछ भाष्यकार एव आचार्यों ने कर्मबधन का कुछ वर्णन किया है। परन्तु योग न्याय व वैशेषिक दर्शनो ने 'कर्मबन्धन' विषय का विवेचन अधिक नही किया है। उपरोक्त दर्शनो की, इस विषय मे, एक प्रकार से उपेक्षा रही है। केवल इतना कहकर—'मनुष्य जो कुछ कर्म करता है, उसका फल उसको इस या आगामी जीवन मे भोगना पडता है—सन्तुष्ट हो गये है। उन्होने यह नही बतलाया कि किस प्रकार मनुष्य को अपने पूर्वकृत कर्मो का फल भोगना पडता है।

बौद्ध दार्शनिको का भी यही मत है कि जो कर्म मनुष्य करता है, उस कर्म के अनुसार सस्कार पड जाते है और मनुष्य को अपने पूर्वकृत कर्मों का फल, इन सस्कारो द्वारा, मिल जाता है। इसका विशेष वर्णन नही किया है।

(घ) जैन दार्शनिकों का विशेष मत

जैन दार्शनिको का भी यही मत है कि जो जैसा कर्म करता है उसको वैसा ही फल मिलता है। जैनाचार्य श्री अमितगति ने कहा है :—

स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा,
फलं तदीयम् लभते शुभाशुभं।
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटम्,
स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा॥

अर्थात्—जो कर्म पूर्वकाल मे मनुष्य द्वारा किया गया है, उसका शुभ अथवा अशुभ फल उसको मिलता है। यदि यह माना जावे कि यह फल किसी अन्य व्यक्ति का दिया हुआ है, तो अपने किये हुए कर्म निरर्थक ही ठहरेंगे।

जैन दर्शन की मान्यता है कि कर्मफल देने वाला कोई अन्य विशेष चेतन व्यक्ति या ईश्वर नही है। कर्मफल स्वय मनुष्य को मिलता रहता है, मन, वचन या शरीर द्वारा कार्य करने के समय मनुष्य की राग, द्वेष आदि जैसी परिणति या भावना होती है, उसी भावना के अनुसार, मनुष्य को उसके कार्य का फल मिलता है। यदि किसी समय, मनुष्य के भाव सर्वथा शुद्ध हों, उसमे राग द्वेषादि रूप किसी प्रकार की भावना विद्यमान न हो, वह निर्ममत्व, निर्लेप, वीतरागी हो, तो उस समय उस व्यक्ति के शारीरिक कार्य करते हुए भी किसी प्रकार का कर्मबन्धन नहीं होता है। मोक्ष शास्त्र (अ० ८-२) मे कहा है :—

स कषायत्वाज्जीव कर्मणो योग्यान्पुद्गलानादत्ते स बन्धः।

अर्थात जीव क्रोध, अभिमान आदि कषाय (वासना, भावना आदि) युक्त होने पर, कर्म में परिणत होने के योग्य सूक्ष्म पुद्गल परमाणुओं (सूक्ष्म परमाणु जिनमे कर्मशक्ति ग्रहण करने की योग्यता हो) को ग्रहण करता है। इस ग्रहण करने को ही बन्ध (कर्मबन्धन) कहते है। जैन दर्शन, प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा के साथ-साथ, सूक्ष्म पुद्गल परमाणुओं का बना हुआ, एक **सूक्ष्म शरीर मानता** है। इस सूक्ष्म शरीर के सूक्ष्म पुद्गल परमाणुओं में, उस व्यक्ति के पूर्वकृत कर्मों के फल देनेवाली शक्ति इस प्रकार भरी होती है, जैसे विद्युत यंत्र (बेटरी Battery) में विद्युत शक्ति। इस सूक्ष्म शरीर को **कार्माण शरीर**[1] के नाम से बोधित किया

---

[1] **कार्माण शरीर = (कर्म + अणु) + शरीर अर्थात् कर्मफल देने वाली शक्ति से युक्त सूक्ष्म परमाणुओं का समूह।**

है। आत्मा को, शक्ति रूप से, अनन्त ज्ञान, दर्शन, शक्ति एवं आनन्दमय मानता है और कहता है कि आत्मा के शुद्ध ज्ञान आनन्द आदि स्वरूप को कर्मफल देने वाली शक्ति से युक्त सूक्ष्म परमाणुओं के समूह कार्माण शरीर ने आच्छादित व विकृत कर रखा है, जिसके कारण, यह सांसारिक आत्मा अल्पज्ञ, शक्तिहीन एव राग द्वेष आदि अनेक प्रकार की भावनाओ से युक्त हुआ दिखलाई देता है। आत्मा को इस सूक्ष्म कार्माण शरीर ने बन्धन मे कर रखा है, यदि आत्मा सूक्ष्म कार्माण शरीर से बद्ध न होता, तो वह भौतिक शरीर से स्थूल पदार्थ मे कैद नही रह सकता था; भौतिक शरीर की मत्यु होते ही, वह मुक्त होकर मोक्ष स्थान को पहुच जाता, एक योनि से दूसरी योनि मे कदापि नही जाता।

यह कर्मशक्ति सूक्ष्म पुद्गल परमाणुओ मे किस प्रकार उत्पन्न होती, रहती एव क्षय होती है, इसका विशद वर्णन, वैज्ञानिक शैली पर, जैन ग्रथो मे दिया हुआ है। यह वर्णन अनुसन्धान द्वारा निश्चित उपरोक्त कर्म-सिद्धान्त से मिलता जुलता है। पाठको की जानकारी के लिये, उसका कुछ उल्लेख किया जाता है।

मनुष्य मन, वचन या काय द्वारा जब कोई कार्य करता है, तो उसके समीपवर्त्ती वातावरण मे, क्षोभ उत्पन्न हो जाता है, उसके चारो ओर विद्यमान विशेष प्रकार के सूक्ष्म परमाणु—जिनको कार्माण वर्गणा[1] कहते है—आत्मा की ओर आकर्षित होते है। उस समय, उस व्यक्ति की राग द्वेष रूप जैसी परिणति या भावना होती है, उसी भावना के अनुसार, इस आकर्षित 'कार्माण वर्गणा' मे, कर्मफल देने वाली, एक विशेष प्रकार की शक्ति (Energy) ऐसे उत्पन्न हो जाती है, जैसे दो पदार्थों

---

[1] कार्माण वर्गणा = कार्माण (कर्म+अणु)+वर्गणा (समूह) अर्थात् सूक्ष्म पुद्गल परमाणुओं का वह समूह जिसमें कर्मशक्ति ग्रहण करने की योग्यता है।

के सघर्षण से विद्युतशक्ति उत्पन्न हो जाती है। इस कर्मफल देने वाली शक्ति से युक्त कार्माण वर्गणा का, आत्मा के साथ एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध (अर्थात् एक ही क्षेत्र मे स्थित आत्मा व कार्माण शरीर का आकाश के एक ही क्षेत्र मे व्याप्ति सम्बन्ध) हो जाता है। जैन दर्शन ने 'कर्मशक्ति-युक्त कार्माण वर्गणा' को **'कर्म'** के नाम से बोधित किया है, क्योकि यह (कर्म) उस व्यक्ति के पूर्वकृत कार्य (कर्म) का फल है। कार्माण वर्गणा (सूक्ष्म परमाणुओ) के आत्मा की ओर आकर्षित होने को **'आस्रव'** और आत्मा के साथ सम्बन्ध होने को **'बन्ध'** जैन ग्रथो मे कहा है।

मनुष्य प्रतिक्षण मन, वचन या शरीर द्वारा कुछ न कुछ कार्य करता रहता है, इसलिये प्रति समय, उसकी तात्कालिक भावनाओ के अनुसार, उसके कर्म बन्धते रहते हैं। उन समस्त कर्मों (कर्मशक्ति युक्त कार्माण-वर्गणा) के समूह को—जो उसने वर्तमान या पूर्व जन्म मे बांधे है और जिनकी, कर्म फल देकर, अभी तक व्युच्छिति नही हुई है—**कार्माण शरीर** कहते है। यह कार्माण शरीर पूर्ण आत्मा मे व्याप्त रहता एवं उसको आच्छादित रखता है।

इन कर्मों की दशा मदिरा के तुल्य है, जैसे किसी मदिरा का नशा जल्दी चढना है, किसी का देर मे, किसी का थोड़ी देर तक रहता है, किसी का अधिक समय तक। ठीक यह दशा कर्मों की है, जब वे, कर्म बन्धन से कुछ समय पश्चात्, कार्यान्वित होते है, तो उनका प्रभाव मनुष्य पर पडने लगता है। जैसे मदिरा के नशे से मनुष्य की स्वच्छ बुद्धि नष्ट होकर भ्रम रूप हो जाती है और वह नशे मे अनेक प्रकार के कार्य करता है, उसी प्रकार, कर्मों के कार्य रूप मे परिणत होने से, मनुष्य की मनोवृत्ति बदल जाती है, राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि भावनाएं उत्पन्न होती हैं और वह अनेक प्रकार के कार्य करता है। वाह्य पदार्थों के सयोग से, कर्मों का फल भिन्न भिन्न प्रकार का मिलने लगता है। ज्ञान के विकास मे न्यूनता या अधिकता हो जाती है। कुछ समय तक फल देकर, ये कर्म कर्मशक्ति-

विहीन हो जाते हैं। उस समय उस कार्माण वर्गणा का--जिसमें उन कर्मों की शक्ति पहिले से भरी हुई थी और अब जिनकी व्युच्छित्ति हो गई है—सम्बन्ध आत्मा से तथा शेष अन्य कर्मों के समूह कार्माण शरीर से छूट जाता है। इस सम्बन्ध के छूटने को **'निर्जरा'** कहते हैं। एक ही साथ एक ही समय कितने ही कर्मों का फल मिलता रहता है। ऐसी दशा मे, जो कर्म फल मिलता है, वह उस समय उदय में आये हुए, समस्त कर्मों की कर्म शक्तियो की जोड़ बाकी का प्रतिफल होता है। शरीर के हलन चलन रोकने, वचन न बोलने एवं मन को शुद्ध रखने से नवीन कर्मों का आगमन रुक जाता है। नवीन कर्मों के आगमन निरोध को **सम्वर** कहते हैं।

मनुष्य अपने भावो को शुद्ध रखने, सांसारिक बाह्य वस्तुओ से मोह ममता त्यागने, क्रोध मान आदि कषाय (अशुभ भावना) के छोड़ने एवं राग रूप शुभ भावनाओं से भी दूर रहने पर, नवीन कर्म बन्धन के चक्र से बच जाता है और पूर्व सचित कर्मों को—जो अभी तक उसकी आत्मा से सम्बन्धित हैं—तपस्या द्वारा शीघ्रता से निर्जरा (नष्ट) करके मुक्त हो जाता है। बन्धन से मुक्त होने पर, आत्मा का शुद्ध चेतन-आनन्द स्वरूप प्रकट हो जाता है एव वह सच्चिदानन्द अवस्था को प्राप्त हो जाता है। कर्म बन्धन से मुक्त अवस्था को **मोक्ष** कहते हैं।

जैन दर्शन ने सात तत्व माने हैं। जैन समाज मे अत्यन्त प्रसिद्ध एवं सर्व मान्य मोक्ष शास्त्र में कहा है :—

'जीवाजीवास्रवबंधसंवरनिर्जरामोक्षस्तत्वं।'

अर्थात् जीव, अजीव (जीव के अतिरिक्त पुद्गल आदि अन्य द्रव्य), आस्रव (उपरोक्त कर्मों का आगमन), बन्ध (आत्मा के साथ कर्मों का सम्बन्ध), सम्वर (नवीन कर्मों के आगमन का निरोध), निर्जरा (कर्म का फल देकर अथवा बिना फल दिये नष्ट हो जाना) व मोक्ष (आत्मा का समस्त कर्म बधन से मुक्त हो जाना) सात तत्व हैं। उपरोक्त सात

तत्वों के ठीक ठीक समझने एव उन पर श्रद्धान करने के लिये जैन ग्रथों मे बड़ा ज़ोर दिया है।

जिस प्रकार भोजन, शरीर के भीतर प्रवेश करने पर, रक्त मांस आदि सप्त धातु व मल मूत्र में विभक्त हो जाता है, उसी प्रकार कर्मशक्ति युक्त कार्माण वर्गणा (अर्थात् कर्म) भी निम्न लिखित आठ भेदों में विभक्त हो जाते हैं :—

(१) ज्ञानावरणीय कर्म, (२) दर्शनावरणीय कर्म, (३) मोहनीय-कर्म, (४) अतरायकर्म, (५) नाम कर्म, (६) गोत्र कर्म, (७) आयु कर्म व (८) वेदनीय कर्म।

इनके नाम व कार्य वही हैं, जो अनुसन्धान द्वारा निश्चित किये हुए, उपरोक्त कर्म सिद्धान्त मे, कर्म के आठ भेदो के हैं। गोमट्टसार आदि ग्रथों मे इन आठ कर्मों का विवरण विस्तार पूर्वक दिया हुआ है। इनको १४८ उत्तर भेदो (उत्तर प्रकृति या कर्म) मे विभक्त किया है[1] जो उप-

---

[1] १—ज्ञानावरणीय कर्म के ५ भेद हैं :—

(१) मतिज्ञानावरणीय कर्म—मतिज्ञान (वस्तु का साधारण ज्ञान) को ढकने वाला कर्म।

(२) श्रुतज्ञानावरणीय कर्म—श्रुतज्ञान (वस्तु के साधारण ज्ञान होने के पश्चात् बुद्धि व विचार द्वारा विशेष बातें निश्चित करना, जैसे क्या यह वस्तु लाभदायक है या हानिकारक) को आच्छादित करने वाला कर्म।

(३) अवधिज्ञानावरणीय कर्म—अवधिज्ञान (सीमित दिव्य ज्ञान, जिसके द्वारा मनुष्य, मन व इन्द्रियों की सहायता के बिना, कुछ क्षेत्र व काल सम्बन्धी वस्तु व घटनाओं को जान लेता है) को आच्छादित करने वाला कर्म।

(४) मनःपर्ययज्ञानावरणीय कर्म—मनःपर्ययज्ञान (सीमित दिव्य-

रोक्त गोमट्टसार एवं अन्य ग्रंथो से जाना जा सकता है। इसके अति-रिक्त भिन्न भिन्न कर्मों का बन्धन, उदय (फल देना), व्युच्छित्ति (नष्ट

ज्ञान जिसके द्वारा तपस्वी मनुष्य, बिना मन व इन्द्रियों की सहायता के, कुछ क्षेत्र व काल सम्बन्धी अन्य मनुष्यों के मन स्थित विचारों को जान लेता है) को आच्छादित करने वाला कर्म।

(५) केवलज्ञानावरणीय कर्म—केवलज्ञान (पूर्ण दिव्यज्ञान जिसके द्वारा महान आत्मायें, बिना किसी इन्द्रिय व मन की सहायता के, सम्पूर्ण पदार्थों को युगपत जानते हैं) को आच्छादित करने वाला कर्म।

२—दर्शनावरणीय कर्म के निम्नलिखित ९ भेद हैं :—

(१) चक्षुदर्शनावरणीय कर्म—चक्षुदर्शन (नेत्र द्वारा सामान्य अवलोकन) को आच्छादित करने वाला कर्म, जिससे मनुष्य अन्धा, काना या न्यून दृष्टि हो।

(२) अचक्षुदर्शनावरणीय कर्म—अचक्षुदर्शन (नेत्रों के अतिरिक्त अन्य इन्द्रियों के द्वारा सामान्य ज्ञान) को आच्छादित करने वाला कर्म, जिससे मनुष्य बहिरा आदि होता है।

(३) अवधिदर्शनावरणीय कर्म—अवधिदर्शन (अवधिज्ञान से पूर्व सामान्य अवलोकन) को आच्छादित करने वाला कर्म।

(४) केवलदर्शनावरणीय कर्म—केवलदर्शन (केवलज्ञान से पूर्व सामान्य अवलोकन) को आच्छादित करने वाला कर्म।

(५) निद्रा कर्म—थकावट दूर करने के लिये साधारण निद्रा उत्पन्न करने वाला कर्म।

(६) निद्रानिद्रा कर्म—अधिक निद्रा (जिसके कारण मनुष्य नेत्रों को उघाड़ न सके) उत्पन्न करने वाला कर्म।

या पृथक् होना), सत्ता (आत्मा के साथ रहना) आदि का वर्णन भी विशद रूप से दिया है, जिनके ध्यान पूर्वक अध्ययन व विचारने से मनुष्य

---

(७) प्रचला कर्म—जिसके होने पर, शोक आदि के कारण विकार उत्पन्न होकर शरीर का संज्ञाहीन होना, जिससे मनुष्य नेत्र को कुछ खोले ही सोता रहता है।

(८) प्रचलाप्रचला कर्म—जिसके कारण निद्रा में मुंह से लार जाती है एवं शरीर के अंग चलते रहते हैं।

(९) स्त्यानगृद्धि कर्म—जिस कर्म के कारण, निद्रा आने पर मनुष्य बीच में ही उठकर जागृत मनुष्य की भांति अनेक रौद्र कर्म करे, परन्तु निद्रा के छूटने पर उसको यह ज्ञान न हो कि मैंने क्या किया है।

३—मोहनीय कर्म के मुख्य दो भेद हैं :—दर्शन मोहनीय व चारित्र मोहनीय कर्म : दर्शन मोहनीय कर्म—आत्मा के वास्तविक स्वरूप के श्रद्धान में बाधा डालता है। इसके ३ भेद होते हैं :—

(१) मिथ्यात्व प्रकृति—वे कर्म, जिसके उदय से, मनुष्य न उपरोक्त ७ तत्वों को समझ कर श्रद्धान कर सके, न उसका मन हिताहित की परीक्षा में लगे। यह कर्म सम्यक्दर्शन का घातक है।

(२) सम्यक्त्व प्रकृति—जिसके उदय से सम्यक् दर्शन (सात तत्वों का श्रद्धान, आत्मरुचि) का तो नाश न हो परन्तु उसमें दोष उत्पन्न होते हों।

(३) सम्यक्मिथ्यात्व प्रकृति—जिसके उदय से तत्वों के श्रद्धान व अश्रद्धान दोनों प्रकार के मिश्रित भाव हों।

चारित्र मोहनीय कर्म—शुद्ध चारित्र के पालने में बाधा डालता है। इसके २५ उत्तर भेद होते हैं। क्रोध, मान (गर्व), माया (कपट) व लोभ चार कषाय (वासना) हैं। तीव्रता, मन्दता

जीवन की अनेक समस्याओं पर बड़ा प्रकाश पड़ता है और कितने ही अंशों में कितने ही प्रश्नों का संतोष प्रद उत्तर मिल जाता है।

की अपेक्षा इनमें से प्रत्येक के निम्नलिखित चार-चार उत्तर भेद होते हैं :—

(१) अनन्तानुबन्धी कषाय—क्रोधादि उपरोक्त चार कषायों में से प्रत्येक का तीव्रतम भाव, जो पत्थर में लकीर की भांति दीर्घ काल तक रहता है। इन तीव्र भावनाओं के होते हुए सम्यक् दर्शन (आत्म दर्शन, आत्म रुचि आदि) नहीं होने पाता है। ये मिथ्यात्व के साथी हैं।

(२) अप्रत्याख्यान कषाय—क्रोधादि उपरोक्त चार कषायों में से प्रत्येक का तीव्र भाव, जो मिट्टी में लकीर की भांति कुछ काल तक रहता है। यह [(अ=किंचित)+प्रत्याख्यान (त्याग)] थोड़े से त्याग अर्थात् गृहस्थ के अणुव्रत में भी बाधा डालता है।

(३) प्रत्याख्यान कषाय—क्रोधादि उपरोक्त चार कषायों में से प्रत्येक कषाय का वह मन्द भाव, जो बालू में लकीर की भांति अल्प काल तक रहता है। ये कषाय, गृहस्थ को अणुव्रत पालने में, बाधा नहीं डालते, परन्तु ये उसको साधु के महाव्रत पालने से रोकते हैं।

(४) संज्वलन कषाय—क्रोधादि उपरोक्त चार कषायों में से प्रत्येक का वह अत्यन्त मंद भाव, जो जल में लकीर की भांति, तत्काल ही, नष्ट हो जाता है। ये कषाय पूर्ण त्याग को भी नहीं रोकते हैं, केवल उनके कारण, कुछ-कुछ दोष उत्पन्न हो जाते हैं।

इस प्रकार प्रत्येक क्रोध, मान, माया व लोभ के उप-

जैन ग्रथो मे इस कर्म बन्धन का, एक अन्य दृष्टि से, निम्नलिखित चार भागो मे, विभाजन किया गया है :—

रोक्त चार भेद होने से १६ उत्तर भेद (प्रकृति) होते हैं। शेष ९ भेद निम्नलिखित हैं :—

(१) रति (रागरूप भावना), (२) अरति (द्वेषरूप भावना), (३) भय, (४) जुगुप्सा (ग्लानि की भावना) (५) हास्य (६) शोक, (७) पुरुष वेद (स्त्री के साथ रमने की इच्छा होना) (८) स्त्रीवेद (पुरुष के साथ रमने की इच्छा होना) (९) नपुंसक वेद (स्त्री व पुरुष दोनों के साथ रमने की इच्छा होना)।

इस प्रकार दर्शन मोहनीय के तीन भेद व चारित्र मोहनीय के २५ भेद मिलाकर, कुल २८ उत्तर भेद, मोहनीय कर्म के हुए।

१–अन्तराय कर्म के निम्नलिखित पांच भेद होते हैं :—

(१) दानान्तराय कर्म—अन्तराय कर्म की वह उत्तर प्रकृति (भेद), जो मनुष्य के दान देने में इस प्रकार बाधा डाले, जिस प्रकार मंत्री राजा के दान देने में अड़चन डाल देता है।

(२) लाभान्तराय कर्म—अन्तराय कर्म की वह उत्तर प्रकृति, जो मनुष्य के लाभ होने में विघ्न डाले।

(३) भोगान्तराय कर्म—
(४) उपभोगान्तराय कर्म—
} अन्तराय कर्म की वे उत्तर प्रकृतियां जिनके उदय होने से मनुष्य भोगने एवं उपभोगने (जो वस्तु बार-बार भोगी जा सके जैसे वस्त्र आदि) में समर्थ होता हुआ भी भोग या उपभोग न कर सके।

(१) प्रदेश बन्ध—किसी कर्म बन्धन के समय, कितनी कार्माण वर्गणा (सूक्ष्मपरमाणुओं) का कर्मशक्ति युक्त होकर, आत्मा के साथ

---

(५) वीर्यान्तराय कर्म—जिस उत्तर प्रकृति के उदय होने से, सामर्थ्य प्रकट न हो सके।

५–नाम कर्म के निम्नलिखित मुख्य ४२ भेद तथा इन भेदों के उत्तर भेद करने से ९३ होते हैं :—

(१) गति नाम कर्म—वह कर्म जिसके कारण मनुष्य, तिर्यञ्च (पशु, पक्षी, जलचर, कीट आदि), देव व नरक चार गतियां मिलती हैं।

(२) जाति कर्म—जिसके कारण जीव को ज्ञानेन्द्रियां प्राप्त होती हैं। इसके पांच भेद हैं :—

(१) एकेन्द्रिय जाति—जिसके केवल स्पर्श इन्द्रिय हो जैसे वृक्ष, लता।

(२) द्वीन्द्रिय जाति—जिसके केवल स्पर्श व मुख दो इन्द्रियां हों, जैसे कृमि, लट।

(३) त्रीन्द्रिय जाति—जिसके केवल स्पर्श, मुख व नासिका तीन इन्द्रियां हों, जैसे चींटी।

(४) चतुरिन्द्रिय जाति—जिसके केवल स्पर्श, मुख, नासिका व नेत्र चार इन्द्रियां हों, जैसे मक्खी, भ्रमर।

(५) पंचेन्द्रिय जाति—जिसके उपरोक्त ४ इन्द्रियां व कर्ण पांचवीं इन्द्रिय भी हों, जैसे मनुष्य, पशु आदि।

(३) शरीर नाम कर्म—जिससे शरीर की रचना हो। शरीर निम्नलिखित पांच प्रकार के होते हैं :—

(१) औदारिक शरीर नाम कर्म—जिससे मनुष्य, पशु,

सम्बन्ध हुआ है, अर्थात् कितने सूक्ष्म परमाणु, कर्मशक्ति से युक्त होकर, कर्म परमाणुओ मे परिवर्त्तित एव आत्मा से सम्बन्धित हुए है।

पक्षी, कीट, वृक्ष आदि का औदारिक (उदर रखने वाला) शरीर बनता है।

(२) वैक्रियक शरीर नाम कर्म—वह कर्म जिससे वैक्रियक शरीर (सूक्ष्म परमाणुओं का वह शरीर जो इन्द्रियों के अगोचर हो और दीवाल आदि स्थूल पदार्थों में से निकल जाये) मिलता है। यह शरीर देव योनि के स्वर्गवासी देव, भूत, प्रेत आदि नीच प्रकार के देव एवं नारकियो के होता है। इस शरीर में विक्रिया (परिवर्तन) होती रहती है।

(३) आहारक शरीर नाम कर्म—वह कर्म प्रकृति जिसके कारण तपस्वी ऋद्धिधारी मुनि के ऐसी शक्ति उत्पन्न हो जावे कि किसी सन्देह के उत्पन्न होने पर, उस सन्देह को दूर करने के लिये, उनकी आत्मा के प्रदेश बढ़कर एक पुतले के रूप में सर्वज्ञ अरहंत के पास तक चले जावें और सन्देह को मिटाकर वापिस आ जावें। इस पुतले को आहारक शरीर कहते हैं। यह अत्यन्त सूक्ष्म परमाणुओं का बना होता है।

(४) कार्माण शरीर नाम कर्म—उपरोक्त कर्म परमाणुओं का समूह, जो आत्मा के साथ सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है।

(५) तैजस शरीर नाम कर्म—वह कर्म प्रकृति जिसके कारण, प्रत्येक प्राणी के एक और सूक्ष्म परमाणुओं का शरीर होता है, जिससे उसके भौतिक शरीर में तेज प्रतीत होता है।

(२) प्रकृति बन्ध—एक ही समय मे बंधे हुए कर्म परमाणुओं में से, कितने कितने कर्म परमाणु ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मों मे से प्रत्येक कर्म के हैं।

---

(४) अंगोपांग नाम कर्म—जिससे मस्तक, पीठ, बाहु आदि अंग, ललाट आदि उपांग का भेद प्रकट हो यह (औदारिक, वैक्रियक, आहारक शरीरांगोपांग नाम कर्म) तीन प्रकार का होता है।

(५) निर्माण नाम कर्म—जिससे शरीर का निर्माण हो, यह दो प्रकार का होता है :—

(१) स्थान निर्माण—जिससे ठीक-ठीक स्थान पर नासिका, कर्ण आदि अंग बनें।

(२) प्रमाण निर्माण—जिससे भिन्न-भिन्न अंगों की लम्बाई, चौड़ाई ठीक हो।

(६) बन्धन नाम कर्म—जिसके कारण शरीर के पुद्गल स्कन्ध मिलते हैं। उपरोक्त औदारिक आदि पंच शरीर सम्बन्धी बन्धन भी (औदारिक शरीर बन्धन नाम कर्म आदि) पांच प्रकार का होता है।

(७) संघात नाम कर्म—जिसके कारण शरीर के पुद्गल स्कन्ध छिद्ररहित परस्पर मिलें। उपरोक्त पांच प्रकार के शरीरों से सम्बन्धित संघात भी पांच प्रकार का होता है।

(८) संस्थान नाम कर्म—जिसके कारण शरीर सुडौल या बेडौल बनता है, इसके निम्नलिखित ६ भेद हैं :—

(१) समचतुरस्र संस्थान नाम कर्म—जिसके कारण शरीर की आकृति ऊपर नीचे सुडौल हो।

(२) न्यग्रोधपरिमंडलसंस्थान नाम कर्म—जिसके कारण,

(३) स्थिति बन्ध—एक ही समय मे जो कर्म बन्धे है, वे कुछ समय पश्चात् कार्य रूप में परिणत होगे, उस समय उन कर्मों का फल उस व्यक्ति

वटवृक्ष के समान नीचे का भाग पतला और ऊपर का स्थूल हो।

(३) स्वातिसंस्थान नाम कर्म—जिसके उदय से नीचे का भाग स्थूल और ऊपर का पतला हो।

(४) कुब्जकसंस्थान नाम कर्म—जिसके उदय से शरीर कुबड़ा हो।

(५) वामनसंस्थान नाम कर्म—जिसके उदय से शरीर बहुत छोटा हो।

(६) हुंडकसंस्थान नाम कर्म—जिसके उदय से शरीर बेडौल हो या अंगों में कमी या अधिकता हो।

(९) संहनन नाम कर्म—जिसके कारण शरीर की अस्थि, पंजरादि में विशेषता हो, जिससे शरीर दृढ़ या हीन हो। इसके ६ भेद हैं।

(१०) स्पर्श नाम कर्म—जिसके कारण कर्कश, मृदु, गुरु, लघु, स्निग्ध, रुक्ष, शीत व उष्ण आठ प्रकार के स्पर्श गुणों में से एक या अधिक स्पर्श गुण शरीर में हों।

(११) रस नाम कर्म—जिसके कारण (तिक्त, कटु, कषाय, आम्ल व मधुर) पांच प्रकार के रस गुण शरीर में हों।

(१२) गन्ध नाम कर्म—जिसके कारण सुगन्ध या दुर्गन्ध शरीर में हो।

(१३) वर्ण नाम कर्म—जिसके कारण शरीर से (शुक्ल, कृष्ण, नील, रक्त व पीत) पाँच प्रकार के रगों में से एक या अधिक रंग हो।

(१४) आनुपूर्व्य नाम कर्म—वह कर्म, जिसके कारण जीव एक

को मिलने लगेगा। यह कर्मफल कितने ही काल तक मिलता रहता है। कर्मफल मिलने वाली अवधि को स्थिति कहते है।

योनि से दूसरी योनि को जाते हुए, पूर्व योनि स्थित शरीर के आकार को रखता है। मनुष्य तिर्यञ्च आदि चार योनियां है, उन सम्बन्धी चार आनुपूर्व्य नाम कर्म होता है।

(१५) अगरुलघु नाम कर्म—वह कर्म प्रकृति, जो शरीर को स्थिर रखती है, जिसके होने से शरीर लोहे के सदृश पृथ्वी में धंस नहीं जाता, न रुई के तन्तुके सदृश आकाश में उड़ जाता है।

(१६) उपघात नाम कर्म—जिसके कारण ऐसे शरीर व अंग का होना, जिससे स्वयं अपने शरीर का घात होता हो।

(१७) परघात नाम कर्म—जिसके कारण ऐसे शरीर व अंग का उत्पन्न होना, जिससे दूसरे व्यक्ति के शरीर का घात होता हो।

(१८) आतप नाम कर्म—जिसके कारण आतपकारी शरीर हो।

(१९) उद्योत नाम कर्म—जिसके उदय से प्रकाश रूप शरीर हो।

(२०) उच्छ्वास नाम कर्म—जिसके उदय से शरीर में उछ्वास उत्पन्न हो।

(२१) विहायोगति नाम कर्म—जिसके उदय से प्राणी गमन करे। यह प्रशस्त (सुन्दर) व अप्रशस्त दो प्रकार की है।

(२२) प्रत्येक शरीर नाम कर्म—जिसके कारण से एक शरीर में एक ही आत्मा व्याप्त हो। वही आत्मा उस शरीर का स्वामी हो।

(२३) साधारण शरीर नाम कर्म—जिसके कारण एक ही शरीर में बहुत सी आत्मायें व्याप्त हों और वे सब ही उस शरीर की स्वामी हों। एकन्द्रिय जाति के वनस्पति काय में आलू, मूली आदि कितने ही फल एवं भाजी है, जिनमें एकन्द्रिय

(४) अनुभाग बन्ध—स्थिति बन्ध के उपरोक्त वर्णन में, जब कर्मफल किसी व्यक्ति को मिलता है, तो किसी कर्म का फल तीव्र होता है और किसी का मन्द। कर्मफल की तीव्र या मन्द शक्ति को अनुभाग कहते हैं।

जाति की कितनी ही आत्मायें व्याप्त हैं और वे सब उसी फल रूपी शरीर के स्वामी हैं (फल में कीड़े आदि हो जाते हैं, इनका उपरोक्त बात से सम्बन्ध बिल्कुल नहीं है)।

(२४) त्रस नाम कर्म—जिसके उदय से जीव द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय व पंचेन्द्रिय शरीर धारण करता है।

(२५) स्थावर नाम कर्म—जिसके कारण जीव पांच प्रकार का एकेन्द्रिय शरीर धारण करता है।

(२६-२७) सुभग व दुर्भग नाम कर्म—जिसके उदय से ऐसा शरीर उत्पन्न हो, जिसके देखने से दूसरों के हृदय में प्रीति या घृणा उत्पन्न हो।

(२८-२९) सुस्वर व दुःस्वर नाम कर्म—जिनके उदय से मनोज्ञ या अमनोज्ञ स्वर उत्पन्न हो।

(३०-३१) शुभ व अशुभ नाम कर्म—जिसके उदय से शरीर के अवयव सुन्दर या कुरूप हों।

(३२-३३) सूक्ष्म वा बादर शरीर नाम कर्म—जिसके उदय से ऐसा शरीर प्राप्त हो, जो पृथ्वी, जल में बिना रुके हुए निकल जावे या न निकल सके।

(३४) पर्याप्ति नाम कर्म—जिसके उदय से जीव में शरीर, इन्द्रिय आदि के लिये, परमाणु व स्कन्ध ग्रहण करने की शक्ति उत्पन्न हो जावे। यह ६ प्रकार का होता है।

आबाधा काल—उस काल को, जो किसी कर्म बन्धन के समय से लगाकर उसी कर्म के उदय (अर्थात् उसी कर्म के कार्यान्वित होने) तक होता है, उसको आबाधा काल कहा है।

इसके अतिरिक्त इन कर्मों का वर्णन जैन ग्रथो में और भी भिन्न भिन्न दृष्टियों से किया है, जिनके अध्ययन से कर्म सिद्धान्त का भाव भली भाति

---

(३५) अपर्याप्ति नाम कर्म—जिसके उदय होने से जीव छह पर्याप्तियों में से एक को भी पूर्ण न कर सके।

(३६-३७) स्थिर व अस्थिर नाम कर्म—जिसके उदय होने से सर्दी गर्मी आदि के लगने पर भी, शरीर की धातु व उपधातुओं में स्थिरता रहे या न रहे।

(३८-३९) आदेय व अनादेय नाम कर्म—जिसके उदय से शरीर प्रभायुक्त या प्रभाहीन हो।

(४०-४१) यशःकीर्त्ति व अयशकीर्त्ति नाम कर्म—जिसके उदय से मनुष्य के गुण अथवा अवगुण की ख्याति हो।

(४२) तीर्थंकरत्व नाम कर्म—जिसके कारण मनुष्य अनुपम, विभूतियुक्त तीर्थंकर (अवतार) पद की प्राप्ति करे।

इस प्रकार नाम कर्म के ४२ भेद होते हैं।

(६) गोत्र कर्म—के दो भेद होते हैं उच्च व नीच गोत्र कर्म।

(७) आयु कर्म के ४ भेद है, अर्थात् देवआयु, नरक आयु, मनुष्य आयु व तिर्यञ्च आयु (यानी प्रत्येक गति सम्बन्धी आयु)।

(८) वेदनीय कर्म के निम्नलिखित दो भेद होते हैं :—

(१) सातावेदनीय कर्म—जिसके कारण प्राणी को सुख की सामग्री प्राप्त होती है तथा शरीर निरोग होता है।

(२) असातावेदनीय कर्म—जिसके कारण प्राणी को दुख उत्पन्न

समझ में आ जाता है। उन ग्रंथों में प्रतिपादित कर्म बन्धन के अध्ययन से, अनुसन्धान द्वारा निश्चित किये हुए कर्म सिद्धान्त का स्वरूप अधिक स्पष्ट व विश्वसनीय हो जाता है।

करने वाली सामग्रियां प्राप्त हों एवं शरीर रोग व्याधि से युक्त हो।

इस प्रकार उपरोक्त आठ कर्मों के मुख्य ९७ व भेद करने पर १४८ उत्तर प्रकृतियां (भेद) होती हैं। इनका विशेष वर्णन गोमट्टसार, मोक्ष-शास्त्र की सर्वार्द्ध सिद्धि, राजवार्त्तिक आदि टीकाओं से जाना जा सकता है।

९—जगत का निर्माण

विज्ञान का नियम है कि पदार्थ न कभी उत्पन्न होता है और न कभी नाश। ससार के प्रत्येक पदार्थ की अवस्था मे परिवर्तन सदैव होता रहता है, परन्तु उस पदार्थ का मूल तत्व नष्ट कभी नही होता। यह नियम अटल है। इसकी सत्यता निर्विवाद, असदिग्ध रूप से सिद्ध है। पूर्व कथित वर्णन इन नियमो की अटल सत्यता को प्रमाणित करता है। इन नियमो के सत्यता की परीक्षा किसी भी पदार्थ पर की जा सकती है। उदाहरण के तौर पर लोहे को लीजिये।

उससे खड्ग, बर्छी आदि शस्त्र, चाकू, कैंची आदि अनेक प्रकार की आवश्यकताओ का सामान तय्यार होता है। इसके गलाने पर, फिर लोह-पिंड बन जाता है, जिससे अनेक प्रकार के सामान फिर तय्यार किये जाते है। लोहा जल, वायु का सयोग पाकर जग की दशा मे बदल जाता है। लोहे की वस्तुये जग की दशा मे परिवर्तित एव मिट्टी मे मिलती हुई दिखलाई देती है। यदि उस जग मिश्रित मिट्टी को एकत्रित किया जावे, तो उचित प्रयोग करने पर, उसमे से फिर लोहा निकल आता है। लोहा रसायनिक पदार्थों के बनाने मे काम आता है। ऐसी दशा मे अन्य पदार्थो के सयोग होने पर, वह सयुक्त पदार्थ की दशा मे परिवर्तित हो जाता है। उस समय उसमे लोहेपन का कोई गुण दिखलाई नही देता है; परन्तु उचित प्रयोग करने पर इन सयुक्त पदार्थो का पृथक्करण हो जाता है और लोहा फिर पृथक् निकल आता है। इस प्रकार लोहे का कोई परमाणु लोहेपन को नही छोडता है, यद्यपि उसकी अवस्था मे अनेक प्रकार का परिवर्तन होता रहता है। यही दशा ससार के अन्य पदार्थों की है। उनकी वाह्य अवस्थाओ मे सदैव परिवर्तन होता रहता है, परन्तु उनके

अन्तर्स्थित मूल तत्व का कभी नाश नही होता। इस अन्वीक्षण से इस परिणाम पर पहुचा जाता है कि भौतिक पदार्थ अनादि काल से है, इनके बने हुए पदार्थों की बाह्य अवस्था मे परिवर्तन सदैव होता रहता है, परन्तु इन पदार्थों के अन्तर्गत मूलतत्व कभी नष्ट नही होते है।

जीव द्रव्य भी—जैसा पूर्व मे निश्चित किया जा चुका है—अनादि काल से है और अनेक योनियो मे भ्रमण करता रहता है। इस प्रकार इस जगत के चेतन व अचेतन समस्त पदार्थ अनादि काल से है और अनन्त काल तक रहेगे। ऐसी दशा मे इन चेतन व अचेतन समस्त पदार्थों के समूह जगत को भी, अनादि काल से लगातार अनन्त काल पर्यन्त, विद्यमान रहता हुआ मानना होगा। इस प्रकार यह जगत अनादि काल से **प्रवाह रूप** चला आता हुआ अनन्तकाल पर्यन्त रहेगा। ऐसी दशा मे यह भी मानना होगा कि इसका निर्माण कभी नही हुआ है। इस जगत के सदैव विद्यमान रहते हुए भी, इसमे सदैव परिवर्तन होते रहेगे और कभी कभी परिवर्तन इतने प्रवल एव व्यापी होगे कि उनको क्रान्ति या प्रलय भी कहा जा सकेगा।

द्वितीय भाग

सत्य मार्ग (चिदानन्द-प्राप्ति मार्ग)

१—क्या सच्चिदानन्द अवस्था प्राप्त की जा सकती है ?

ससार का प्रत्येक प्राणी रोग से पीड़ित स्त्री, पुत्र आदि कुटुम्बी जन के वियोग से व्यथित, शत्रु आदि के सयोग से दुखित, भोजन, वस्त्र आदि आवश्यक पदार्थों के अभाव से चिन्तित एव जरा, मरण सम्बन्धी कष्टो से भयभीत दिखलाई देता है। इन दु.खो से मुक्त होने एवं सुख प्राप्ति की कामना करता है। मनुष्य भ्रम से सुख को कभी एक वस्तु मे, कभी दूसरी वस्तु मे समझ लेता है एव उनके प्राप्त करने मे प्रयत्नशील होता है। इस भ्रान्ति एव भ्रम बुद्धि के कारण ही, अनेक प्रकार के दु:ख को सहन करता है। सुख, वास्तव मे, किसी वाह्य पदार्थ मे निहित नही है। यह तो स्वय आत्मा के भीतर विद्यमान है। आत्मा ज्ञान व आनन्द से ओतप्रोत है[1]। अतएव उस व्यक्ति को—जो वास्तविक सुख की आकाक्षा रखता है—अपने वास्तविक सच्चिदानन्द स्वरूप की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करना होगा।

आत्मा का यह ज्ञान आनन्दमय स्वरूप कर्म परमाणुओ के समूह सूक्ष्म कार्माण शरीर से आच्छादित व विकृत हो रहा है। इसी कार्माण शरीर के कारण, जीव अज्ञानी हुआ इस ससार मे भ्रमण कर रहा है। कभी मनुष्य योनि धारण करता है। कभी हस्ति आदि पशु, शुक आदि पक्षी, कृमि आदि छोटे जन्तु, आम आदि वृक्ष योनि मे जन्म लेता है और अनेक प्रकार के कष्ट भोगता है। इसी

---

[1] जैसा कि पहिले आत्मा के वास्तविक स्वरूप "आनन्द" में निश्चित किया गया है।

कार्माण शरीर के कारण, मनुष्य मे काम, क्रोध आदि अशुभ, दया, क्षमा आदि शुभ भावनाये होती है। यदि किसी प्रकार जीव इस कर्म बन्धन से मुक्त हो जावे, अपनी आत्मा को बन्धन मे रखनेवाले कार्माण शरीर के जाल को नष्ट कर दे, तो इस जीव का वास्तविक स्वरूप प्रगट हो जावेगा और यह जीव ससार के भ्रमण, रोग, व्याधि, जन्म, जरा, मरण के दु.ख, शोक आदि से मुक्त होकर सच्चिदानन्द स्वरूप मे विराजमान हो जावेगा। उसकी समस्त अव्यक्त आत्मिक शक्तिया पूर्णतया विकसित हो जावेगी। उसकी दिव्य ज्ञान ज्योति मे समस्त पदार्थ अनन्त गुण व पदार्थ सहित आलोकित होने लगेंगे एव वह शुद्ध, अलौकिक, दिव्य, अनुपम आनन्द की अनुभूति मे मग्न हो जावेगा। इस प्रकार कर्म बन्धन से सर्वथा मुक्त हो जाना ही, शुद्ध चिदानन्द अवस्था का प्राप्त करना है। अतएव वास्तविक सुख के मुमुक्ष जीव का उद्देश्य कर्म बन्धन से सर्वथा मुक्त होना ही निश्चित होता है।

यह प्रश्न उपस्थित होता है कि इस कर्म बन्धन से मुक्त किस प्रकार हुआ जावे। 'कर्म सिद्धान्त' शीर्षक अध्याय मे निर्णय किया गया है कि मनुष्य मन, वचन या शरीर द्वारा जो कार्य करता है, उस कार्य करने के समय विद्यमान भावना के अनुसार, सूक्ष्म परमाणुओं में कर्म फल देने वाली शक्ति उत्पन्न हो जाती है और इन कर्म शक्ति युक्त परमाणुओं का सम्बन्ध आत्मा के साथ हो जाता है। जब कुछ समय पश्चात ये कर्म परमाणु कार्य रूप मे परिणत होते है अर्थात कर्म फल देते है, तो इनका प्रभाव उस मनुष्य पर पडने लगता है, उसकी बुद्धि व भावनायें उस कर्म फल के अनुसार हो जाती है। इन भावनाओ के अनुसार, वह व्यक्ति फिर नवीन कार्य (कर्म) करता है, जिनके अनुसार वह व्यक्ति फिर नवीन कर्मों का बन्धन करता है। इससे ज्ञात होता है कि मनुष्य की जो भावनाये इस समय विद्यमान है, वे पूर्व संचित कर्मों के फल स्वरूप हैं और वे पूर्व सचित कर्म, बधन होने के समय की विद्यमान भावनाओं के अनुसार,

बन्धे है। इस प्रकार भावना व कर्म की कारण कार्य रूप परम्परा का कभी अन्त नही होता। जब तक यह कारण कार्य की शृखला (Chain of cause & effect) नही टूटती है, तब तक कर्म बन्धन से मुक्त किस प्रकार हुआ जा सकता है ? यह एक जटिल समस्या है, जिसका समाधान होना नितान्त आवश्यक है। इसके समाधान किये बिना, कर्म बन्धन से मुक्त होने का मार्ग ढूढा नही जा सकता।

उपरोक्त कथन से प्रतीत होता है कि मनुष्य कार्य करने मे स्वतंत्र नही है, उसको अपने पूर्व सचित कर्मों के फल अनुसार, कार्य करना पडता है। कार्य करने के समय, जैसी उसकी भावनाये होती हैं, उन्ही के अनुसार फिर नवीन कर्म बन्धन होता है। इस प्रकार ससार मे उसका भ्रमण कभी समाप्त नही होता। ससार मे ऐसी घटनाये भी प्रतिदिन होती रहती है, जिनसे प्रतीत होता है कि मनुष्य मे पुरुषार्थ बल, सकल्प शक्ति, बुद्धि एव कार्य करने की स्वतत्रता भी कितने ही अशो मे विद्यमान है।

प्राय: देखा जाता है कि जो मनुष्य अपने उद्देश्य की प्राप्ति मे प्रयत्न-शील रहते है, अनेक विघ्न व बाधाओ के उपस्थित होने पर भी, निश्चित पथ से विचलित नही होते है, वरन् जो द्विगुण उत्साह से अपने उद्देश्य की सिद्धि मे लगे रहते है, अन्त मे उन पुरुषार्थी मनुष्यो के मनोरथ सफल भी हो जाते है। एक विद्यार्थी जो एम० ए० परीक्षा तक शिक्षा प्राप्त करने का दृढ सकल्प कर लेता है एव उसकी प्राप्ति के लिये अध्ययन करता हुआ प्रयत्न शील होता है, अन्त मे वह, कुछ वर्षों के पश्चात, एम० ए० की परीक्षा मे उत्तीर्ण होता हुआ दिखलाई देता है। इसी प्रकार जब कोई मनुष्य इतिहास आदि किसी विषय मे पारगत होने का दढ सकल्प कर लेता है और अपने उद्देश्य के साधन मे पुरुषार्थ पूर्वक लग जाता है, तो वह मनुष्य कुछ काल के पश्चात, उस विषय का पडित हो जाता है। इस प्रकार पुरुषार्थी मनुष्य अपने मनोरथ में सफल होता हुआ दिखलाई देता है। कभी कभी यह भी देखा जाता है कि पुरुषार्थी मनुष्यो के मार्ग

मे ऐसी कठिनाइयां आ जाती है या ऐसी परिस्थिति उपस्थित हो जाती है, जिससे वे अपने मनोरथ मे सफल नही होने पाते है। धन सम्पत्ति को सुख का कारण समझ कर, उसकी प्राप्ति के लिये बहुत से मनुष्य सकल्प करते है एव उसके लिये भरसक प्रयत्न भी करते है। उनमे से कुछ मनुष्य विपुल धन सम्पत्ति के स्वामी बन कर, अपने मनोरथ मे पूर्णतया सफल हो जाते है। कुछ थोडी सी पूजी इकट्ठा कर पाते है और कुछ बिल्कुल निर्धन ही रह जाते है। इस विवेचन से स्पष्ट है कि मनुष्य का पुरुषार्थ एक महान शक्ति है, जो प्राय. सफल हो जाती है और कभी कभी निष्फल भी रह जाती है।

यह पुरुषार्थ मनुष्य की आत्मिक शक्ति के अतिरिक्त अन्य कोई शक्ति नही है। पुरुषार्थ रहते भी जो असफलता होती है, उसका वाह्य दृश्य कारण वाह्य परिस्थिति एव मार्ग मे उपस्थित बाधाये है। इस असफलता का वास्तविक अतरग कारण, उस मनुष्य की पूर्व कर्म शक्ति है, जिसके कार्यान्वित होने से सुख दु ख उत्पन्न करने वाली अनेक सामग्रिया उसको प्राप्त होती है, जैसा कि पहिले निर्णय किया जा चुका है। इस प्रकार दो शक्तिया—पुरुषार्थ अर्थात आत्मिक शक्ति एव कर्म शक्ति—प्रत्येक मनुष्य के जीवन मे प्रतिदिन कार्य करती रहती है। यदि दोनो शक्तियां परस्पर विरोधी हो, तो जो शक्ति अधिक बलवती होती है, उसी के अनुसार कार्य होता हुआ दीखता है।

उदाहरणत एक व्यक्ति गगा नदी की धारा मे बहता हुआ चला जाता है। यदि गगा नदी के प्रवाह का वेग उस बहने वाले व्यक्ति के विपरीत तथा उसके तैरने की शक्ति से अधिक हो, तो उस व्यक्ति का तैरने का प्रयत्न धारा प्रवाह के विरुद्ध निष्फल हो जाता है और उसको उस नदी प्रवाह के साथ बहना पडता है। यदि उस व्यक्ति के तैरने की शक्ति गंगा नदी की धारा प्रवाह के वेग से अधिक हो, तो वह व्यक्ति गगा नदी के प्रवाह विरुद्ध तैरने मे सफल हो जाता है। यदि उस मनुष्य के

तैरने की शक्ति प्रवाह की दिशा मे कार्य करे, तो वह मनुष्य बडी सुगमता एव वेग के साथ तैरने में सफल होता है। ठीक इसी प्रकार जब कर्म शक्ति का प्रभाव आत्मशक्ति (पुरुषार्थ) के विरुद्ध होता है और उस मनुष्य की आत्मशक्ति उस कर्म शक्ति की अपेक्षा बलहीन होती है, तो उस मनुष्य का पुरुषार्थ व प्रयत्न सफल नही होता है। परन्तु जब उस व्यक्ति की आत्मिक शक्ति, कर्मशक्ति के विरुद्ध होते हुए भी, उससे अधिक बलवती होती है, तो वह व्यक्ति अपने प्रयत्न मे सफल हो जाता है। यह अवश्य होता है कि ऐसी दशा मे कर्मशक्ति के विरुद्ध होने के कारण, उस मनुष्य को अनेक कठिनाइया व आपत्तिया उठानी पडती है या उसकी सफलता मे न्यूनता रहती है। यदि कर्मशक्ति (मनुष्य के) पुरुषार्थ के अनुकूल हो, तो उस मनुष्य का उद्देश्य बडी सुगमता व सरलता के साथ पूर्णतया सिद्ध हो जाता है।

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि मनुष्य का पुरुषार्थ (आत्मिक शक्ति) एक महान शक्ति है, जिसके द्वारा वह बडे बडे कार्य सम्पादन कर सकता है। कर्म शक्ति का प्रभाव सदैव एकसा नही रहता है, कभी तीव्र होता है और कभी मन्द। यदि मनुष्य कर्म बन्धन से मुक्त होने का प्रयत्न निरन्तर उत्साह व दृढ सकल्प के साथ करता रहे, तो उसकी आत्मिक शक्ति दिन पर दिन प्रबल होती हुई इतनी अधिक बलवती हो जावेगी कि वह व्यक्ति, कर्म शक्ति के विरुद्ध होते हुए भी, अपने उद्देश्य व प्रयत्न मे सफल हो जावेगा।

यह प्राय: देखा जाता है कि कुछ व्यक्ति—जो अपने प्रारम्भिक जीवन मे अत्यन्त कामी, क्रोधी एव दुराचारी थे—अन्त मे शान्त, सयमी व सदाचारी हो जाते हैं[1]। वे पुरुष—जो ग्रहस्थ-अवस्था मे इन्द्रिय वासना की तृप्ति मे ही लगे रहते है और जिन्हे नाना प्रकार के भोग-

---

[1] श्री वाल्मीकि भारत में प्रसिद्ध ऋषि हुए है, जिनके नाम को उनकी रचित संस्कृत रामायण ने अमर कर दिया है। प्रारम्भिक जीवन में

विलास, विषय भोग के साधन जुटाने मे ही आनन्द आता है—छोटी छोटी शारीरिक पीड़ाओ से घबड़ा जाते है, तनिक से कांटे के चुभने से रो पडते है, पृथ्वी पर सोने से कष्ट प्रतीत करते है, भोजन के अप्रिय व अस्वादिष्ट होने से कुपित होकर उसको फेक देते है। जब उनका चित्त सासारिक भोग विलास से हट जाता है, उनका दृष्टिकोण बदल जाता है एव उनका ध्येय आत्मशुद्धि बन जाता है तब आत्म सयम व आत्म चिन्तवन के लिये बन का मार्ग लेते है। तपस्या द्वारा आत्मशुद्धि करने लगते है। पृथ्वी पर लेटने, मच्छरो के काटने, भूख प्यास, शीत, उष्णता आदि शारीरिक कष्टो से उनके मन मे कोई विकार उत्पन्न नही होता है। वे शान्ति के साथ प्रसन्नता पूर्वक इन कष्टो को सहन करते है, उनके जीवन मे इस विशेष परिवर्तन का कारण, उनके दृष्टिकोण मे परिवर्तन, आत्म सुधार का दृढ सकल्प एव आत्मशुद्धि व सयम की ओर पूर्ण पुरुषार्थ के साथ सतत प्रयत्न करना ही है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि यदि मनुष्य दृढ सकल्प करके धीरे धीरे निरन्तर आत्म शुद्धि का प्रयत्न करता रहे, तो उसकी आत्मिक शक्ति इतनी प्रबल हो जाती है एव उसके अव्यक्त गुण व गुप्त शक्तिया इतनी विकसित हो जाती है कि उनके विपरीत तीव्र से तीव्र कर्म शक्ति भी अपना प्रभाव नही दिखा सकती है। जिस का प्रतिफल यह होता है कि जब पूर्व कृत कार्यों के कारण उत्पन्न कर्म शक्ति कार्य रूप मे परिणत होती है (अर्थात् कर्म फल देती है) एव उसका प्रभाव उस व्यक्ति के मन पर पडने लगता है और उसके कारण सुख, दु ख, काम-क्रोध आदि भावना उत्पन्न करने वाली वाह्य सामग्रियो का सयोग होता है, तब वह

श्री वाल्मीकि दुराचारी थे। उनका समय चोरी, डाका डालने आदि में व्यतीत होता था। मनुष्य का प्राण ले लेना उनके लिये साधारण बात थी। अन्तिम काल में ऊंची श्रेणी के ऋषि व महापुरुष बन गये थे।

व्यक्ति अपनी आत्मिक शक्ति की प्रावल्यता से, कर्म जनित प्रभाव एवं भावनाओं का सफलता पूर्वक प्रतिरोध करता है। यह कर्म शक्ति उसकी भावना को विकृत करने में असमर्थ रहती है।

कर्म सिद्धान्त शीर्षक अध्याय मे यह निश्चित किया जा चुका है कि कार्य करने के समय काम क्रोध आदि भावनाओ मे से जो भावना होती है, उसी के कारण तथा अनुसार, सूक्ष्म परमाणुओं मे कर्म फल देने वाली शक्ति उत्पन्न हो जाती है। यदि मन, वचन या शरीर द्वारा कार्य करने के समय मनुष्य के भाव शुद्ध हो अर्थात् काम, क्रोध आदि अशुभ, दया, परोपकार प्रेम आदि शुभ भाव न हो, तो उस समय **सूक्ष्म परमाणुओं** मे किसी प्रकार की भी कर्म **शक्ति उत्पन्न न होगी** और न वह मनुष्य उस समय नवीन कर्म बन्धन से युक्त **होगा**। यदि मनुष्य पूर्ण पुरुषार्थ **से काम ले**, दृढ सकल्प के साथ अभ्यास द्वारा आत्मिक शक्ति को इतना दृढ़ कर ले कि पूर्व सचित कर्म शक्ति के कार्यान्वित होने पर भी, उसमे काम-क्रोध आदि कोई भी विभाव उत्पन्न न हो सके, तो उस समय उसके नवीन कर्म **बन्धन नहीं होगा**। ऐसी दशा निरन्तर होते रहने पर, उसके पूर्व संचित कर्म, कार्य रूप में परिणत होने से, कर्म शक्ति विहीन होते जावेगे और वह व्यक्ति रागद्वेषादि विभावो के न होने से, भविष्य में नवीन कर्म बन्धन से मुक्त रहेगा। ऐसा करते करते एक समय आ जावेगा, जब कि उस व्यक्ति के पूर्व संचित समस्त कर्म परमाणु कर्म शक्ति विहीन हो जावेंगे और वह व्यक्ति कर्म बन्धन से सर्वथा मुक्त हो जावेगा। कर्म बन्धन से मुक्त होते ही, उसका शुद्ध आत्म स्वरूप—जो कर्म परमाणुओं से आच्छादित व विकृत हो रहा था—प्रगट हो जावेगा। वह आत्मा एक दम अपने दिव्य स्वरूप पूर्ण ज्ञान, दर्शन व वीर्य को प्राप्त कर लेगा एवं अलौकिक दिव्य आनन्द में सदैव के लिये मग्न हो जावेगा। कर्म परमाणुओ के समूह कार्माण शरीर के सर्वथा नष्ट हो जाने से, ससार भ्रमण, रोग, व्याधि आदि समस्त दुखों से सदा के लिये मुक्त हो जावेगा।

२—चिदानन्द स्वरूप प्राप्ति का मार्ग

यह निश्चय हो जाने पर कि आत्मा का शुद्ध चिदानन्द स्वरूप प्राप्त किया जा सकता है, यह जानना परमावश्यक है कि मुमुक्षु जीव किस मार्ग का अवलम्बन करे कि जिसपर चल कर वह अपने शुद्ध ज्ञान आनन्दमय स्वरूप को प्राप्त कर सके।

मुमुक्षु प्राणी के लिये आवश्यक है कि सबसे प्रथम छानबीन करके अपने वास्तविक स्वरूप का निश्चय करे। जब तक आदर्श निश्चित नही, तब तक उसके (आदर्श के) प्राप्त करने का मार्ग कैसे ढूढ़ा जा सकता है। इसलिये प्रयत्न पूर्वक, दृढ़ता के साथ, निष्पक्ष भाव से भिन्न भिन्न बातों का निर्णय करके, अपने वास्तविक स्वरूप का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करे। जब उसको यह निश्चित हो जावे कि उसकी आत्मा, पूर्ण ज्ञान से प्रकाशित एव दिव्य आनन्द से भरपूर है; उसका यह ज्ञान आनन्दमय स्वरूप उसके पूर्व सचित कर्मों से आच्छादित व विकृत हो रहा है, जिसके कारण उसकी आत्मा अज्ञानी, काम-क्रोध आदि भावनाओ से युक्त, अनेक प्रकार के दुःख एव चिन्ताओं से पीड़ित दीखता है; यह कार्माण शरीर, पूर्वकृत कार्यों के समय जो रागद्वेष रूप उसकी वृत्तियां थी, उनके कारण सचित हुआ है; यह व्यक्ति काम-क्रोध आदि समस्त भावना एवं वृत्तियो के त्यागने अर्थात् वीतराग होने से, भविष्य में नवीन कम बन्धन से मुक्त रह सकेगा और साथ ही साथ पूर्व सचित कर्म बन्धन को नष्ट भी कर सकेगा; इन पूर्व संचित कर्मों के बन्धन से मुक्त होने पर उसका शुद्ध स्वरूप—जो ज्ञान के तेज से प्रदीप्त है, अलौकिक दिव्य आनन्द से ओत-प्रोत है, अनन्त शक्ति से युक्त है, शातिमयी है—प्रकट हो जावेगा। इन बातो की दृढ़ भावनाये उसके हृदय मे भली-भाति अकित हो जानी चाहिये।

संदेहात्मक भावों को—जो प्रायः हृदय मे उठा करते हैं—विवेक बुद्धि, तीव्र आलोचना एव हार्दिक पश्चात्ताप के अस्त्रों से भेद कर निकाल दे। उपरोक्त बातो का सन्देह रहित श्रद्धान हृदय-पटल पर भली-भांति अंकित हो जाना चाहिये। शुद्ध चिदानन्द प्राप्ति का आदर्श सदैव सामने रहे एव उसकी प्राप्ति के लिये सतत प्रयत्न शील रहे। श्रद्धा का दीप हृदय मे सदा प्रज्वलित रहे। इसके प्रकाश बिना, अज्ञान अधकार मे, मार्ग नही मिलेगा और पद पद पर मार्ग से विचलित होना पड़ेगा। श्रद्धा का दीप हृदय मे उस समय तक प्रज्वलित रहे, जब तक उसका स्थान ज्ञान का प्रकाश नही ले लेता है।

मार्ग पर चलते हुए मुमुक्षु यात्रीके हृदय मे प्रायः भ्रम उत्पन्न होने लगता है, विश्वास की नीव हिलने लगती है; नाना प्रकार के प्रलोभन, चित्त को आकर्षित करनेवाली मनोहर आकृतिया धारण करके, उसके चित्त को डावाडोल कर देते हैं। उसको भासने लगता है कि सांसारिक सुखो के त्यागने मे उसने मूर्खता की है; ये सासारिक भोग तो उसके लिये ही बनाये गये है। ऐसी दशा मे उसकी एक अनोखी स्थिति हो जाती है। इस सन्देह व भ्रमात्मक स्थिति हो जाने पर, उसको तीव्र विवेक बुद्धि द्वारा आत्मस्वरूप, वर्तमान स्थिति, अन्तिम ध्येय आदि की परीक्षा पुनः करनी पड़ती है। इस परीक्षा के करने पर उसका हृदय निर्मल हो जाता है, उसका आदर्श अधिक स्वच्छ होकर पुनः उसके हृदय मन्दिर मे विराजमान हो जाता है; भ्रम नष्ट हो जाता है और श्रद्धा का दीप पुनः द्विगुण प्रकाश से प्रज्वलित हो उठता है।

वह सत्पथ का यात्री पूर्व सचित कर्म शक्ति को—जिसके कारण उसकी वर्तमान स्थिति ज्ञान हीन, मलिन एवं विकृत हो रही है—नष्ट करने के लिये उद्यत होता है। काम-क्रोध आदि कुवृत्तिया तथा अशुभ भावनाओ को—जिनके कारण नवीन कर्म शक्ति उत्पन्न होती है—रोकने के लिये तत्पर होता है। ये कुवृत्तियां व अशुभ भावनाये, मनुष्य

की अनेक प्रकार की इच्छा व वासनाओ से उत्पन्न होती हैं। इनका रोकना सुगम ही नही, वरन् अत्यन्त दुष्कर है। ये वासनायें हृदय सागर में जलतरग की भाति उठा करती है; मन की शान्ति को भंग करके उसे क्षुब्ध कर देती है। ये वासनाये उसी समय रोकी जा सकती है, जब मन नियत्रित हो जावे, उसकी चचलता सयम के अकुश द्वारा वश मे कर ली जावे। वासना रोकने एव मन को नियत्रित करने के लिये आवश्यक है कि सत्पथ का यात्री इद्रिय जनित विषय वासना को त्यागे। स्त्रियों के साथ भोग विलास करने, मदिरा आदि मादक वस्तुये पीकर मदोन्मत्त होने, अनेक प्रकार के स्वादिष्ट भोजन करने की लालसा, सुन्दर युवतियो के हाव-भाव पूर्ण गाना सुनने एव नाच देखने की इच्छा, अनेक प्रकार के चटकीले भड़कीले, मन को डावाडोल करने वाले वस्त्र पहिनने तथा इतर फुलेल, क्रीम (Cream) आदि अनेक सुगधित एव सौन्दर्य वर्धक पदार्थों से शरीर को सुसज्जित करने की भावना को छोड दे। साराश में उसको अपनी समस्त पाशविक वृत्तियो पर नियत्रण का अकुश लगाना पडेगा। शरीर को वश मे रखने के लिये भोजन की मात्रा एवं सख्या मे कमी करनी होगी! कभी कभी उपवास करना होगा। श्रम को मिटाने के लिये शरीर को आवश्यक आराम देते हुए, निद्रा आदि का समय नियत करना होगा। आलस्य व प्रमाद को अपने से दूर रखना होगा। दैनिक व्यवहार में छल कपट, दूसरो को धोखा देना, असत्य बोलना आदि छोड़ना होगा। अपनी इच्छाओ को सीमित रखने के लिये आवश्यक पदार्थों की सख्या, मात्रा आदि में भी परिस्थिति के अनुसार नियम बनाने होंगे। इस प्रकार प्रयत्न व अभ्यास करते रहने से, उसकी क्षुद्र वृत्तिया निर्बल पड जावेगी तथा अशुभ भावनाये लुप्त होने लगेगी। इन क्षुद्र वृत्तियो के निर्बल होने के साथ साथ, उसके हृदय में दया, प्रेम, परोपकार, शान्ति, नम्रता, निर्भयता आदि सत्गुणो का भी प्रादुर्भाव होगा।

सत्पथ के यात्री के मार्ग में प्रलोभन आकर कभी कभी चट्टान की

भांति खड़े हो जावेंगे। वासना व इच्छायें सुगमता से परास्त नही होंगी। उनके साथ घोर संग्राम करना पडेगा, ये बार बार नाना प्रकार के सुन्दर आकर्षक रूप बना कर उसको ललचायेंगी और उसको भ्रम मे डाल कर सन्मार्ग से विचलित करने का प्रयत्न करेंगी। जब कभी—जहा कही—अवसर मिलेगा, ये वासनायें अप्रत्यक्ष आघात करेंगी और उसको सत्पथ से भ्रष्ट करने का उद्योग करेंगी। ऐसे कठिन अवसरों पर, आदर्श के प्रति अटूट श्रद्धा का प्रज्वलित दीप उसके पथ को प्रकाशित रखेगा और वासना के लुभाने वाले प्रलोभनो से उसकी रक्षा करेगा। इस कटकाकीर्ण मार्ग से निकल जाने पर, उसमे आत्म शक्ति, आत्म विश्वास, साहस, निर्भयता, विवेक आदि सत्गुणों का विकास अधिकाधिक होने लगेगा।

वासना को नियन्त्रित रखने के लिये आवश्यक है कि सत्पथ का यात्री अपने प्रतिदिन के कार्यों की समालोचना करे। जो कार्य उसने किये हो, जो शब्द उसने बोले हों या जो विचार उसके हृदय मे आये हों, उनको सत्यता की कसौटी पर निर्दयता के साथ जाचे। जाचने पर जो विचार, कार्य या वचन निन्द्य या कलुषित प्रमाणित हों, उन पर हार्दिक पश्चात्ताप करे एव संकल्प करे, कि भविष्य मे ऐसे गर्हित कार्य, वचन या विचार न करेगा। महात्मा गांधी, इब्राहीम लिन्कन आदि महान पुरुषों की जीवनिया बतलाती है कि दैनिक कार्यों की समालोचना द्वारा ही ये महान् पुरुष अपनी आत्माओ को उन्नत बना सके है। इस प्रकार दैनिक दिनचर्या की भलीभाति समीक्षा करने से, उसका चरित्र एवं मनोवृत्तियां अतीव निर्मल व शुद्ध हो जावेंगी।

सत्पथ यात्री को उपहास के द्वार में से निकल कर जाना होगा। उसके प्रिय मित्र उसका उपहास व मखोल उडाने लगेंगे, उसको मूर्ख व सनकी कहेंगे, उसके व्यवहार को सामाजिक जीवन के विरुद्ध व हानिकारक समझेंगे। वे उसके हृदय मे ज्ञान के प्रज्वलित प्रकाश को न देख सकेंगे। अपने को अधिक बुद्धिमान समझ कर, उसको उसके कर्तव्य पर

उपदेश देने लगेंगे। इससे उसके हृदय मे मानसिक वेदना व ग्लानि उत्पन्न होगी, उसको अपने चारो ओर अंधकार दिखाई पडेगा। कुछ काल तक उसकी दशा कर्तव्य विमूढ, सज्ञाहीन सदृश हो जावेगी। यह मानसिक वेदना उसको आत्मस्वरूप एव आदर्श पर गहन दृष्टि से विचार करने के लिये बाध्य करेगी। इस आत्म स्वरूप मनन से उसे प्रतीत हो जावेगा, कि उसकी यह मानसिक वेदना उसके हृदय की एक गुप्त वासना का परिणाम है। यह वासना उसके हृदय में अपना यश एव मित्रो के द्वारा अपनी प्रशसा सुनने की भावना के रूप मे प्रगट हुई है। इस सत्य के भासने पर मानसिक वेदना उसके हृदय से लुप्त हो जावेगी, उसका चित्त निर्मल ज्ञान से प्रकाशित होकर शान्त हो जावेगा। शान्ति व प्रेम से परिपूर्ण होकर, यात्री आदर्श के मार्ग पर आगे बढेगा।

मुमुक्षु यात्री को सत्पथ पर चलते हुए आगे यह जान पडता है कि वह अकेला रह गया है; स्त्री-पुत्र आदि कुटुम्बी जन, मित्र आदि हितैषियो ने उसे परित्यक्त कर दिया है; उसका कोई साथी नही है। अपने को अकेला प्रतीत करके, उसका चित्त खेद खिन्न हो जाता है; मन उचट जाता है; ससार अधकारमय दीखने लगता है; उसकी दशा विचित्र हो जाती है; अनेक प्रकार के विकल्पो के भवर मे गोता लगाने लगता है। कुछ समय तक, ऐसी दशा मे रहने पर, उसका ध्यान संसार की परिवर्तनशील एव अस्थिर अवस्था की ओर जाता है। पूर्व संचित कर्मों के कारण प्राणी, किस प्रकार भिन्न भिन्न योनियो मे, अनेक प्रकार के कष्ट व यत्रणाये अकेला सह रहा है, कोई उसके दुःख को दूर नही करता है, न उसको विपत्ति से बचाता है, उसको अकेला ही संसार मे भ्रमण करना पडता है। इनका चित्र उसके नेत्रो के सामने घूमने लगता है। यह जान कर उसका हृदय खेद खिन्न हो जाता है, कि मानव समाज किस प्रकार अपनी वासना पूर्त्ति के लिये सासारिक सघर्ष में फसा हुआ, शारीरिक कष्ट एव मानसिक चिन्ता से व्यथित है। ऐसी अवस्था में उसके हृदय से अकेले-

पन की अनुभूति का दुःख लुप्त हो जाता है। उसके हृदय में मानव समाज एवं प्राणीमात्र के दुःखों के साथ सहानुभूति, दया व प्रेम जागृत हो जाते हैं। उसका मन मानव समाज के कल्याणकारी कार्यों की ओर प्रवृत्त हो जाता है। प्राणिमात्र की, विशेषकर मानव समाज की, सेवा करना अपना कर्तव्य समझने लगता है। अज्ञान अंधकार को दूर करने, विद्या का प्रकाश फैलाने, रोगियों के लिये चिकित्सा एवं औषधि का प्रबन्ध करने, निर्धन, दीन, मनुष्यों के लिये जीविका के कार्य ढूंढने, आर्थिक सहायता पहुचाने तथा दुखित जीवों के कष्ट निवारण करने के लिये उद्यत हो जाता है। मनुष्य, पशु, पक्षी, कृमि आदि किसी प्राणी को कष्ट देना उसे अरुचिकर प्रतीत होने लगता है। पशु, पक्षी आदि प्राणियो की हिसा का सर्वथा त्याग कर देता है। व्यापार आदि सासारिक कार्यों में अन्य मनुष्यों के साथ प्रतियोगिता करना उसे अच्छा नही लगता है, जिससे बहुत से मनुष्य—जो उससे पहिले व्यापार आदि के कारण द्वेष रखते थे—प्रेम करने लगते है। सच्चरित्र एव उच्च वृत्तिधारी मनुष्य—जिनसे वह पहिले परिचित भी न था—उसके सहवास के इच्छुक हो जाते है और उसके पास आने लगते है।

क्षुद्र वृत्तियों के नष्ट हो जाने पर, उस सत्पथ यात्री के हृदय में शान्ति व उच्च वृत्तियों का प्रादुर्भाव हो जाता है। उसके हृदय में शान्ति, प्रेम, सत्य, दया, क्षमा, नम्रता, सरलता, उदारता आदि उच्च भावनाओ का साम्राज्य स्थापित हो जाता है। ज्ञान के प्रकाश से उसकी अन्तरात्मा प्रदीप्त होने लगती है, उसके हृदय सागर में दिव्य अलौकिक आनन्द की लहरें, एक के बाद दूसरी, उठने लगती हैं और वह अपनी आत्मा मे अपूर्व स्फूर्ति व आह्लाद अनुभव करता है। उसका हृदय निर्मल, उदार व विशाल हो जाता है, विश्व प्रेम, ज्ञान एव आनन्द से ओत-प्रोत हो जाता है। ऐसी स्थिति मे शरीर से ममत्व कम हो जाता है। मोह के क्षीण होने से व्यापार आदि सासारिक कार्य उसको झझट प्रतीत होने लगते हैं।

स्त्री, पुत्र, मित्र, गृह, धन, धान्य आदि वस्तुओ से चित्त हट जाता है। गृह में निर्ममत्व होकर, जल में कमल की भाति, अलिप्त रहता है, अथवा गृह त्याग कर सन्यासी जीवन व्यतीत करने लगता है। निर्ममत्व दशा की महिमा 'तत्वज्ञान तरगिणी' मे निम्नलिखित शब्दों में की है :—

निर्ममत्वं परं तत्वं ध्यानं चापि व्रतं सुखं
शीलं स्वरोधनं तस्मान्निर्ममत्वं विचिन्तयेत् ।

अर्थात् निर्ममत्व होना महान तत्व है; यही ध्यान, व्रत, सुख, शील एव इन्द्रिय निरोध है, इसलिये निर्ममत्व भाव का सदा चिन्तवन किया जावे। निर्मोही की दशा साम्य, स्थितप्रज्ञ सदृश हो जाती है। भगवद्-गीता में (२–५५,५६,५७,५८,७१) स्थितप्रज्ञ की स्थिति निम्न प्रकार बतलाई है :—

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥५५॥
दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥५६॥
यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५७॥
यदा संहरते चायं कूर्मोऽगानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५८॥
विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥७१॥

अर्थात् हे पार्थ (अर्जुन)! जब कोई मनुष्य अपने मन में उत्पन्न हुई समस्त वासनाओ को त्याग देता है और अपने आप ही मे सन्तुष्ट होकर रहता है, उसको स्थित प्रज्ञ कहते है। दुःख से जिसके मन को खेद नही होता है, सुख में जिसकी आसक्ति नही है और जिसके राग, भय, क्रोध नष्ट हो गये है, उसको स्थित प्रज्ञ मुनि कहते हैं। सब बातों में जिसका

मन आसक्ति रहित हो गया है और जिसको यथा प्राप्त शुभ अथवा अशुभ वस्तु में प्रसन्नता या विषाद नही होता है, उसकी बुद्धि को स्थिर कहा जाता है। जिस प्रकार कछुवा अपने हस्तपाद आदि अगो को सब ओर से सिकोड़ लेता है, उसी प्रकार जब कोई मनुष्य अपनी इन्द्रियों को भोग विलास आदि (इन्द्रियों के) विषयों से हटा लेता है, तब उसकी बुद्धि को स्थिर कहा जाता है। जो पुरुष सब प्रकार की कामनाओं को त्याग देता है एव निस्पृह होकर व्यवहार करता है तथा जो ममत्व व अहंकार से विमुक्त है, उसे ही शान्ति मिलती है। इस साम्य स्थिति के सम्बन्ध मे श्री अमितगति आचार्य ने 'सामायिक पाठ' में कहा है :—

दुःखे सुखे वैरिणि बन्धु वर्गे,
योगे वियोगे भवने वने वा।
निराकृता शेष ममत्व बुद्धे,
समं मनो मेऽस्तु सदापिनाथ ॥

अर्थात्—'हे नाथ! समस्त मोह ममता को नष्ट करके, ऐसी साम्य-स्थिति मेरे हृदय को प्रदान करो कि जिससे मैं सुख व दुःख में, शत्रु व मित्र में, लाभ व हानि में, गृह व बन में एक ही समान रहूं।

इस साम्य भाव को पडित जुगलकिशोर जी ने 'मेरी भावना' नामक पाठ मे बडी ही सुन्दर ललित कविता मे दर्शाया है :—

होकर सुख में मग्न न फूले, दुख में कभी न घबड़ावे।
पर्वत नदी श्मशान भयानक, अटवी से नहिं भय खावे ॥
रहे अडोल-अकंप निरन्तर, यह मन दृढ़तर बन जावे।
इष्ट वियोग अनिष्ट योग में, सहन शीलता दिखलावे ॥

ऐसी साम्य स्थिति हो जाने पर, वह सत्पथ का यात्री संयम व तप द्वारा पूर्व संचित कर्म शक्ति को वेग के साथ नष्ट करने लगता है एवं नवीन कर्मों का बन्धन भी नहीं करता है। जितनी जितनी पूर्व संचित कर्म शक्ति नष्ट होती जाती है, उतनी उतनी ही उसकी अव्यक्त आत्मिक

शक्तियों का विकास होने लगता है; उसकी वृत्ति व भावनायें अधिक स्वच्छ व निर्मल होती जाती हैं, उसके अव्यक्त ज्ञानानन्द स्वभाव का प्रकाश बढता जाता है। धैर्य पूर्वक प्रयत्न करते करते, ऐसा समय इस या आगामी जीवन मे आ जाता है कि जब उसके समस्त घाति कर्म परमाणुओ का बन्धन टूट जाता है। सम्पूर्ण घाति कर्म शक्ति नष्ट हो जाती है। इस घाति कर्म शक्ति के नष्ट होते ही, वह अपने शुद्ध स्वरूप पूर्ण दर्शन, ज्ञान, आनन्द व वीर्य से जगमगा उठता है। वह आत्मा जीवन्मुक्त होकर, पूर्ण आनन्द से ओत-प्रोत हो जाता है एवं उस दिव्य, अनुपम, अलौकिक आनन्द का आस्वादन करता हुआ उसमे मग्न हो जाता है। उसकी दिव्य ज्ञान ज्योति मे संसार के समस्त पदार्थ, उनके सर्व गुण एव उनकी समस्त अवस्थाये झलकने लगती हैं। विश्व प्रेम से प्रेरित होकर, उसकी दिव्य वाणी का सचार होता है, जिसे सुन कर संसार के प्राणियो की मोह निद्रा भग हो जाती है एव वे सन्मार्ग पर लगते है।

आयु तथा अन्य अघाति कर्मों के नष्ट हो जाने पर, सूक्ष्म कार्माण शरीर छिन्न भिन्न हो जाता है; इस सूक्ष्म कार्माण शरीर के नष्ट-भ्रष्ट होते ही, वाह्य भौतिक शरीर से भी सम्बन्ध छूट जाता है। वह जीवन्मुक्त आत्मा कृत कार्य होकर परमात्म अवस्था को प्राप्त हो जाता है और ससार के उर्ध्व भाग मे जाकर विराजमान हो जाता है। वहां वह अपने शुद्ध चिदानन्द स्वरूप में मग्न होकर, अनन्त काल तक दिव्य, अनुपम, अलौकिक आनन्द सुख को भोगता रहता है एवं उसकी दिव्य ज्ञान ज्योति मे ससार के समस्त पदार्थ आलोकित होते रहते हैं। कर्मशक्ति के पूर्णतया नष्ट एवं सूक्ष्म कार्माण शरीर के सर्वथा छिन्न भिन्न हो जाने पर, ऐसी कोई शक्ति नही रहती है, जो उस परमात्मा के शुद्ध ज्ञान आनन्द स्वरूप मे विघ्न डाल सके या उसमें रागद्वेष आदि विभाव उत्पन्न कर सके। इसलिये वह मुक्त आत्मा अपने शुद्ध चिदानन्द स्वरूप मे सदा के लिए मग्न हो जाता है।

३—निवृत्ति मार्ग

मानव समाज के विकास, मनुष्य के जीवन निर्वाह, स्त्री-पुत्र आदि कुटुम्बी जन की रक्षा व भरण पोषण, समाज व राष्ट्र की सुव्यवस्था, रक्षा आदि बातों को दृष्टि मे रखने से उपरोक्त सत्मार्ग को दो भागों मे विभक्त किया जा सकता है :—

(क) ग्रहस्थ मार्ग—वह मार्ग जो मानव समाज के उन समस्त मनुष्यों के लिये उपयोगी है, जो व्यापार आदि करके धनोपार्जन करते है, विवाह करके पत्नी सहित घर में रहते हुए सांसारिक सुखों का उपभोग करते है, सतान उत्पन्न करके सृष्टि क्रम को जारी रखते हैं, स्त्री पुत्र आदि का पोषण करते है, जिन्हें आमोद प्रमोद के कार्यों मे आनन्द आता है, जिनका हृदय विषय वासना की तृप्ति से हटा नहीं है तथा जो समाज एव राष्ट्र की शिक्षा, रक्षा सुव्यवस्था आदि कार्यों मे लगे हुए है ।

(ख) सन्यास मार्ग—वह मार्ग जो उन मनुष्यो के लिये श्रेयस्कर है, जिनका हृदय संसार की दुखमयी, चिन्ता युक्त, परिवर्तन शील एव संघर्ष पूर्ण अवस्था से हट गया है, मोह व ममता के नष्ट हो जाने से जिन्होने स्त्री, पुत्र, गृह, धन, धान्य, व्यापार आदि सासारिक कार्यों से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लिया है एवं जो आत्म स्वरूप की वास्तविक स्थिति जानने, ज्ञान, आनन्दमय शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति के इच्छुक हैं, जिन्होंने काम, क्रोध आदि तुच्छ वृत्तियों को त्याग दिया है तथा इन क्षुद्र वृत्तियों के नाश हो जाने से, जिनके हृदय में दया, प्रेम आदि उच्च वृत्तियों का प्रादुर्भाव हो गया है । इस प्रकार मनुष्य की परिस्थिति, मानसिक स्थिति एवं विकास पर दृष्टि डालने से, सत्मार्ग के उपरोक्त दो भेद हो जाते हैं, जिनका संक्षिप्त वर्णन निम्न प्रकार किया जा सकता है ।

(क) गृहस्थधर्म (पचं अणुव्रत)

शुद्ध चिदानन्द स्वरूप प्राप्ति मार्ग के उपरोक्त विवेचन से निम्न-लिखित पांच नियम उद्धृत किये जा सकते है, जिन नियमो के यत्न पूर्वक पालन करने से गृहस्थी, मुमुक्षु जीव अपने उद्देश्य की प्राप्ति कर सकता है .—

(१) अहिंसा व्रत—मानव व पशु समाज के किसी प्राणी को भी कष्ट न दे, न ऐसा वचन बोले, जिससे किसी प्राणी को दुख हो और न किसी प्राणी का अहित विचारे। मुमुक्षु जीव को इस प्रकार व्यवहार करना चाहिये कि जिससे न किसी मनुष्य या प्राणी का प्राण सहार हो और न किसी प्रकार का शारीरिक या मानसिक कष्ट ही पहुचे। ससार मे रह कर जीवन निर्वाह के हेतु व्यापार आदि कार्य करने मे सब प्रकार की हिंसा से बचना मनुष्य के लिये असम्भव है, बहुत से कृमि कीट आदि छोटे छोटे जन्तुओ की हिंसा प्रति दिन हुआ करती है जैसे :—

(क) आरम्भिक हिंसा—भोजन बनाने, आग जलाने, गमन करने आदि आरम्भिक कार्यों में बहुत से छोटे छोटे जीवो की—जिनमे से कितने ही दिखलाई भी नही देते है—हिंसा हुआ करती है, जिनसे सर्वथा बचना गृहस्थी के लिये असम्भव है।

(ख) उद्योगिक हिंसा—कृषि आदि व्यवसाय मे बहुत से छोटे छोटे जीवो की हिंसा हुआ करती है। इन छोटे छोटे जीवो की रक्षा करना असम्भव है। कृषि, व्यापार आदि उद्योग बिना, जीवन निर्वाह हो नही सकता, इसलिये उपरोक्त प्रकार की हिंसा अनि-वार्य है।

(ग) विरोधी हिंसा—मनुष्य को अपनी, स्त्री, पुत्र आदि कुटुम्बी जन की, समाज व राष्ट्र की, डाकू, लुटेरे, शत्रु आदि विरोधी प्राणियो

से रक्षा करनी पड़ती है। ऐसी दशा में उत्तम बात तो यह है कि मनुष्य, अपनी आत्मिक शक्ति द्वारा, शान्ति के साथ शत्रुओं का प्रतिरोध करे, जीवन देकर अपने आश्रित जनो की रक्षा करे। परन्तु यदि मनुष्य में, शान्ति के साथ आत्मिक शक्ति द्वारा, प्रतिरोध करने की सामर्थ्य नही है, तो उसके लिये उचित है कि शस्त्र द्वारा शत्रु एवं डाकू आदि विरोधी मनुष्यो के आक्रमण का प्रतिरोध करे। यदि अपनी, आश्रित जन एवं समाज व राष्ट्र की रक्षा करने मे, आक्रान्ता का संहार भी हो जावे, तो भी वह गृहस्थी अहिंसा अणुवत का पालक ही कहलावेगा क्योकि उसकी भावना हिसा करने की नही है।

डाकू व शत्रुओं के आक्रमण होने पर, भय से कम्पित होकर भाग जाना कदापि उचित नही है। भय मानसिक दुर्बलता है, इसको अपने पास भी नही आने देना चाहिये। इस प्रकार गृहस्थी मनुष्य के लिये उपरोक्त आरम्भिक, उद्योगिक एवं विरोधी हिंसाये अनिवार्य है। गृहस्थी कभी भी उपरोक्त प्रकार की हिंसा करने का इच्छुक नहीं होता है। उसकी भावना तो सदा यही रहती है कि किसी प्रकार की भी हिंसा न हो न किसी प्राणी को कष्ट पहुचे। प्रत्येक कार्य को सम्भाल कर करता है कि जिससे क्षुद्र जीवो की भी हिंसा बिल्कुल न हो या कम से कम सभव हो। हिंसा की भावना के विद्यमान न होने से, वह गृहस्थी हिंसा के पाप का भागी नही होता क्योकि भावना ही कर्म बन्धन का कारण है। हिंसा आदि अशुभ भावना से अशुभ कर्मों का बन्धन होता है और भावना रहित, शुद्ध, वीतराग अवस्था मे किसी भी कर्म का बन्धन नही होता है।

(घ) सकल्पी हिंसा—उपरोक्त दशाओ के अतिरिक्त मनुष्य का कर्तव्य है कि विचार, सकल्प द्वारा या प्रमाद वश कभी किसी प्राणी का जीवन नष्ट न करे। अपने स्वाद या शौक के लिये किसी पशु या पक्षी को न मारे, न उनका शिकार करे, न मांस भक्षण करे और न ऐसी

वस्तुओं का—जो पशु, पक्षी आदि जन्तुओं के मारे जाने से बनती हैं[1]—उपयोग करे। शरीर रक्षा के लिये अन्न, दुग्ध, घृत, फल, शाक आदि वनस्पति[2] पर ही निर्वाह करे। उसके लिये उचित है कि किसी मनुष्य, पशु, पक्षी, जलचर, कीट आदि जन्तु को न सतावे, न उनके साथ कठोरता का बर्ताव करे, न उनका अहित विचारे। सेवक, सेविका आदि आश्रित मनुष्यों के साथ क्रूरता का व्यवहार न करे। किसानों के प्रति कठोर बर्ताव करना या उनसे इतना अधिक भूमि कर लेना, जिसके देने पर उनका

---

[1] (१) चमड़े का प्रयोग में अधिक लाना उचित नहीं है, चमड़े के हेतु बहुत से पशु मारे जाते हैं। केवल उस चमड़े के—जो स्वयं मृत पशु से प्राप्त होता है—जूते आदि का प्रयोग में लाया जाना ठीक कहा जा सकता है।

(२) बहुत से पक्षियों के प्राण, उनके सुन्दर परों के लिये हरण किये जाते हैं, इसलिये अहिंसा प्रेमी सज्जनों को उचित है कि इन परों को प्रयोग में न लावें, न गृहस्थवासी महिलायें इन परों को अपने टोप में लगावें।

(३) रेशम को भी प्रयोग में लाना उचित नहीं है क्योंकि इसके तय्यार करने में लाखों कीड़ों के प्राण पानी में उबाल कर लिये जाते हैं। कीड़ों के प्राण ले लेने के पश्चात्, उनके कोयों से रेशम के तार उतार लिये जाते हैं।

[2] पुनर्जन्म शीर्षक अध्याय की टिप्पणी में यह दिखलाया गया है कि वृक्ष आदि वनस्पति में भी जीव है। वृक्ष आदि वनस्पति में, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि प्राणियों की अपेक्षा, चेतना आदि आत्मिक शक्तियों का विकास बहुत कम है। जीवित रहने के हेतु मनुष्य के लिये आवश्यक है कि किसी न किसी प्रकार का भोजन किया जावे, इसलिये यह उचित ही है कि मनुष्य पशु, पक्षी, जलचर आदि प्राणियों का—जिनमें ज्ञान आदि

जीवन निर्वाह भी न हो सके, उचित नही है। न मजदूरों से इतना अधिक या इतनी देर तक काम लेना उचित है कि जिससे उनका स्वास्थ्य बिगड़ जावे। इसी प्रकार ऋण पर इतना अधिक व्याज लेना कभी भी उचित नहीं ठहराया जा सकता, जो न्याय, मनुष्यता, भ्रातृ भाव के विरुद्ध हो और जिस व्याज के ले लेने पर ऋणी तथा उसके कुटुम्बी जन के निर्वाह साधन ही नष्ट हो जावे। गाड़ी, टमटम, आदि वाहनों मे चलनेवाले बैल व घोड़ों के साथ भी दया का बर्ताव किया जाना चाहिये; उन पर अधिक बोझा लादना या शक्ति से अधिक दूर तक ले जाना कदापि ठीक नही है।

(२) सत्यव्रत—सदैव सत्य वचन कहना उचित है। अपने आर्थिक आदि लाभ के लिये दूसरों को धोखा देना या इस प्रकार कहना, सकेत करना या चुप रहना—जिससे दूसरे मनुष्यो को भ्रम हो जावे या वे अन्यथा प्रकार समझ जावे—असत्य आचरण है। यदि सत्य कह देने से कोई बड़ा अनर्थ होता है, तो ऐसा सत्य भाषण भी उचित नही है। यदि किसी सत्य बात के कह देने से, किसी के घर कलह तथा आपस मे मार-पीट होने की आशका हो, तो ऐसी सत्य बात का कहना कभी भी उचित नही कहा जा सकता। इसी प्रकार यदि कोई चोर, डाकू, या अन्य व्यक्ति, किसी व्यक्ति के धन अपहरण करने के हेतु, उस व्यक्ति के घर का भेद लेना चाहे और अपने दुष्ट अभिप्राय को छिपा कर मीठी मीठी बाते बनावे, तो ऐसी अवस्था मे उससे सत्य कह देना कभी भी उचित नहीं

आत्मिक शक्तियां अधिक विकसित है एवं जिनके प्राण लेने में अपने परिणाम भी अधिक कठोर होते है—भक्षण न करे। जीवन निर्वाह के लिये आत्मिक शक्तियों में सबसे कम विकसित वनस्पति पर ही सन्तोषित रहे। वृक्ष व पौधों को भी आवश्यकता से अधिक कष्ट न दे, न उनको तोड़े।

कहा जा सकता। ऐसे अवसरों पर मौन धारण करना ही उपयुक्त है। दूसरे मनुष्यों के गौरव कम करने या अपयश फैलाने के हेतु उनके गुप्त दोषों का प्रगट करना या अन्य प्रकार की बुराई करना अनुचित है। परन्तु यदि समाज या राष्ट्र के किसी उत्तरदायित्व पद पर किसी दुष्ट मनुष्य की नियुक्ति का प्रश्न है या उस मनुष्य के द्वारा राष्ट्र को किसी प्रकार की हानि पहुचने की सभावना है, यदि उस समय उसकी दुष्टता प्रकट नही की जाती, तो राष्ट्र का अहित होगा, ऐसी दशा में समाज के लाभार्थ उसके गुप्त दोष एव दुष्ट अभिप्राय को प्रकट करना कभी भी अनुचित नही ठहराया जा सकता। अन्य मनुष्यो से कठोर, कर्कश, हृदय-भेदी शब्द कहना या गाली देना अनुचित है। बचन सदैव हित, मिष्ट एवं सत्य होने चाहिये। सत्यव्रती के लिये उचित है कि वह सदा सत्य की खोज करे, प्रत्येक बात पर निष्पक्ष बुद्धि से विचार एव मनन करे, सत्य के लिये बडे से बडा त्याग करने के लिये तत्पर रहे, जो सत्य प्रतीत हो, उसको अगीकार करे, जो विचार धारणाये असत्य मालूम हो, उनको त्याग दे।

(३) अचौर्य व्रत—स्वार्थ वश अन्य व्यक्तियों के धन आदि पदार्थों का अपहरण करना निन्दनीय चौर्य कर्म है। यदि कोई सम्पत्ति या वस्तु सुपुर्द की जावे, उस वस्तु को हडप कर लेना या थोडा देना भी चोरी मे सम्मिलित है। चोरी किये हुऐ भूषण आदि वस्तुओं को, थोड़े से मूल्य मे, ले लेना भी चोरी ही है। दूसरे मनुष्यो को चोरी करने की प्रेरणा करना, उत्तेजना देना, चोरी डाके आदि कार्यों की प्रशसा करना सर्वथा अनुचित है। दूसरे व्यक्ति की वस्तुओ को दबाव डाल कर, धोखा देकर या बहका कर ले लेना भी इस अचौर्य व्रत के विरुद्ध है। किसी अन्य व्यक्ति की अज्ञानता, दुर्व्यवस्था, या मूर्खता से लाभ उठा कर उसकी बहुमूल्य वस्तु को कम मूल्य देकर ले लेने से भी, इस व्रत मे दूषण आता है। अनुचित लाभ उठाने के लिये, चुगी से बचने के हेतु छिपा कर वस्तु

को नगर मे लाना, चुंगी के अफसरों को बनावटी बीजक दिखाकर कम चुगी देना, बनावटी बही खाता दिखला कर इन्कम टैक्स आफिसर से कम इन्कमटैक्स नियत कराना, रेल मे बिना टिकट चलना या नीची श्रेणी का टिकट लेकर ऊची श्रेणी के डिब्बे मे बैठ कर जाना, बढ़िया श्रेणी की वस्तु मे घटिया श्रेणी की वस्तु मिला देना, छोटे गज से नाप देना, तोल मे कम दे देना आदि बाते चौर्य कर्म मे सम्मिलित है। मुमुक्षु जीव के लिये उचित है कि वह अन्य व्यक्तियो के धन या वस्तु को, बिना उनकी सम्मति के, ले लेने की भावना को भी हृदय में न लावे।

(४) ब्रह्मचर्य यास्वदारा सतोष व्रत—सबसे उत्तम बात यह है, कि मनुष्य पूर्ण ब्रह्मचारी रहे, किसी स्त्री के साथ काम सेवन न करे, न काम वासना को हृदय मे स्थान दे, अपने मन पर नियत्रण रखे। पूर्ण ब्रह्मचारी होना साधारण गृहस्थी के लिये कठिन है, इसलिये गृहस्थ के लिये उचित है कि वह अपनी काम वासना को अपनी विवाहिता स्त्री तक सीमित रखे। अपनी विवाहिता स्त्री के अतिरिक्त अन्य किसी स्त्री से—चाहे वह विवाहिता हो या अविवाहिता, गृहस्थिन हो या वेश्या-काम सेवन न करे। स्त्री या लड़को के साथ अनग क्रीडा करना व्यभिचार से भी अधिक निन्द्य एव दूषित है। पर स्त्री के साथ अश्लील हास्य करना, मनोहर अग देखना, रमने की वासना हृदय मे लाना, आसक्त होना आदि ब्रह्मचर्य व्रत के विरुद्ध है। अपनी विवाहिता स्त्री को भोग उपभोग की सामग्री समझ कर, उसके साथ रात्रि दिवस भोग विलास मे रत रहना कभी भी उचित नही कहा जा सकता। इसलिये मुमुक्षु जीव का कर्तव्य है कि काम वासना को वस मे करे। जहा तक सभव हो सके, उतना कम अपनी धर्म पत्नी के साथ सभोग करे। श्रेष्ट तो यह है कि केवल सतान उत्पत्ति के हेतु, मासिक धर्म के पश्चात् अपनी धर्म पत्नी के साथ भोग करे। ब्रह्मचर्य व्रती के लिये उपयुक्त है कि वह अपनी आत्मिक शक्ति एवं परिस्थिति पर भलीभाति विचार करके, अपने जीवन पर्यन्त या किचित काल के

लिये, अपनी स्त्री के साथ भी भोग करने के नियम बनाले। इन नियमों से उसको ब्रह्मचर्य व्रत पालने में बड़ी सहायता मिलेगी।

ब्रह्मचर्य व्रतधारी मनुष्य के लिये उचित है कि मद्य, मास आदि मादक वस्तु एवं तामसिक भोजन का—जिनसे उसकी विवेक बद्धि मे न्यूनता या काम वासना को उत्तेजना मिलती हो—त्याग कर दे। उसके लिये उचित है कि वह सदैव नियमानुसार सात्विक भोजन ही किया करे। ब्रह्मचर्य व्रती के लिये कामोद्दीपन करने वाली स्त्रियों की कथा सुनना एव कहना, व्यभिचारी स्त्री पुरुषों की सगति करना, कामोत्तेजना करने वाले नाच रग, थ्येटर, सिनेमा आदि तमाशो मे सम्मिलित होना उपयुक्त नही है; न उसके लिये ऐसे शृंगार करना या चटकीले, भडकीले आभूषण पहिनना ही उचित है, जिनसे स्वय या अन्य दर्शक गण के मन मे विकार उत्पन्न हो। यदि ब्रह्मचर्य व्रत की धारण करने वाली स्त्री हो, तो उसको भी उपरोक्त प्रकार ही आचरण करना चाहिये।

(५) परिग्रह प्रमाण व्रत—ससार के प्रत्येक मनुष्य मे अनेक प्रकार की वासना एव इच्छाये होती है। इन वासनाओकी तृप्ति के लिये मनुष्य भोग, उपभोग की नाना प्रकार की सामग्रियां एकत्रित करके परिग्रह बढाता है। इन सामग्रियो के जुटाने के लिये धन की आवश्यकता होती है। धन को प्राप्त करने के लिये व्यापार आदि कार्य करता है। व्यापार आदि कार्य करने मे अन्य मनुष्यों के साथ प्रतियोगिता करनी पड़ती है, जिससे प्राय दूसरो के स्वत्वो पर भी आक्रमण हो जाता है। अन्य मनुष्यो के साथ सघर्ष होने से, उसे एव अन्य मनुष्यों को अनेक प्रकार की चिन्ता व कष्ट उठाने पडते है, जिनसे उसके भाव कलुषित होते है और उसको विवश होकर नवीन कर्मों के बन्धन मे पड़ना पड़ता है। जितनी जितनी मनुष्य की वासनाये अधिक होगी, उनकी तृप्ति के लिये उतनी ही अधिक सामग्रिया एकत्रित एवं धन सचय की आवश्यकता होगी, उतनी

ही अधिक प्रतियोगिता अन्य मनुष्यो के साथ करनी पड़ेगी एवं उतनी ही अधिक चिन्ता व कष्ट झेलने पडेगे। मुमुक्षु जीव के लिये उचित है कि अपनी वासनाओ को नियमित करने के लिये, अपनी एव अपने आश्रित स्त्री, पुत्र आदि कुटुम्बी जन की आवश्यकताओं को ध्यान मे रख कर, जीवन पर्यन्त या कुछ अवधि के लिये ऐसे नियम बना ले कि भोग, उपभोग की सामग्रियां अधिक से अधिक वह कितनी कितनी रखेगा, स्थावर व जगम सम्पत्ति किस सीमा तक रख सकेगा तथा किस सीमा तक वार्षिक आय को अपनावेगा। अपनी इच्छाओ को अधिक नियत्रित व कम करने के हेतु, परिवार के अतिरिक्त अपने निजी व्यक्तित्व के प्रयोग के लिये भी, भोजन, वस्त्र आदि आवश्यक पदार्थो के ग्रहण करने के नियम बना ले। इस प्रकार भोजन, वस्त्र, धन, सम्पत्ति, गृह आदि परिग्रह को परिमित करने से, उसकी वासनाये नियत्रित हो जावेगी। उसकी इच्छा निर्धारित सीमा का उलंघन करके सीमा से वाह्य वस्तुओ के ग्रहण करने की न होगी। इन इच्छाओ के सीमित होने से, शान्ति उसके हृदय मे विराजमान होगी और वह सत्पथ की ओर वेग से बढेगा। यदि निर्धारित सीमा से अधिक धन व सम्पत्ति सयोग से प्राप्त हो जावे या निर्धारित सीमा से अधिक आय हो, तो उस अधिक सम्पत्ति व आय को अपनावे नही, वरन् परोपकार के कार्य मे लगा दे।

उपरोक्त अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं परिग्रह परिमाण पच व्रतो का वर्णन, गृहस्थ की मानसिक शक्तियो के विकास एव उसकी परिस्थिति ध्यान मे रख कर किया गया है। सन्यासी व साधु की मनोवृत्ति व स्वाभाविक गुणो के विकास को दृष्टि मे रखने से उपरोक्त पंच व्रतो के स्वरूप मे कितना ही परिवर्तन हो जाता है। साधु के व्रतो को महाव्रत और गृहस्थी के व्रतो को अणुव्रत कहना अनुचित न होगा।

(ख) सन्यासधर्म (पंच महाव्रत)

महाव्रतो का वर्णन निम्न प्रकार से किया जा सकता है —

(१) अहिंसा महाव्रत—साधु किसी प्रकार की भी हिंसा, किसी दशा मे भी, नही करते है, न कोई ऐसा कार्य करते है, न ऐसा शब्द ही बोलते है, जिनमे श्रोता या अन्य किसी जीव को किसी प्रकार का कष्ट पहुचे और न कभी किसी जीव का अहित विचारते है। जीवन निर्वाह के हेतु, किसी प्रकार का व्यवसाय नही करते है। कृषि आदि व्यवसाय के त्याग देने से, उद्योग सम्बन्धी कृमि, कीट आदि छोटे छोटे जन्तुओ की हिंसा से बच जाते है। व्यापार छोड देने से, व्यापार सम्बन्धी प्रबध एव प्रतियोगिता से उत्पन्न चिन्ताये व कष्ट—अपने तथा अन्य मनुष्यो को होते थे—बन्द हो जाते है। उदर पूर्त्ति के लिये न भोजन बनाते, न अग्नि जलाते, न अन्य कोई कार्य करते है, इसलिये भोजन सम्बन्धी सब प्रकार की हिंसा उनसे दूर रहती है। शरीर को जीवित रखने के लिये भिक्षावृत्ति स्वीकार करते है। आत्मोन्नति के हेतु, साधु प्राय नगर, ग्राम आदि बस्ती से बाहर रहते है, भोजन के लिये दिन मे एक बार नगर या ग्राम मे आते है और भिक्षा द्वारा सात्विक भोजन प्राप्त करके लौट जाते है। मार्ग मे पृथ्वी को देखते हुये चलते है कि कही प्रमाद से कोई जीव उनके पैरो के नीचे दब कर न मर जावे, न कष्ट पावे। सम्हाल कर पुस्तक, कमडल आदि उपकरण जीव शून्य स्थान मे रखते है। इस प्रकार भोजन, गमन आदि मे किसी आरम्भिक हिंसा का दोष उन्हें नही लगता है।

यदि कोई मनुष्य, पशु, कीट, पतग आदि उनके शरीर को किसी प्रकार का कष्ट पहुचावे, तो उसको हर्ष पूर्वक सहन करते है। यदि कोई मनुष्य या पशु उन पर आक्रमण करे, उनके शरीर को तलवार, दान्त, पजा आदि तीक्ष्ण शस्त्र या अग से विदार डाले एव प्राण भी लेले, तो भी आक्रान्ता मनुष्य या पशु पर अपनी रक्षा के हेतु न वार करते है, न भय-

भीत होकर भागते है, न उनसे दीनता पूर्वक प्राण दान की प्रार्थना करते है, न उनको कर्कश, कठोर आदि अपशब्द कहते है, वरन् आई हुई आपत्ति एव कष्ट को आत्मशक्ति द्वारा शान्ति पूर्वक सहन करते हैं, अपने मन को चंचल, शोकातुर नही होने देते है, न मन मे उससे क्रोधित होते है, न रुष्ट, न उसका अहित मन में विचारते है। यदि कोई व्यक्ति उनको दुराचारी, कपटी, पाखडी, मूर्ख, ढोगी आदि अपशब्द व गाली दे, तो उनको सुन कर न मन मे दुखित होते है और न अपने तप, ज्ञान, त्याग आदि कार्यों की प्रशसा सुन कर प्रसन्न होते है। सुख, दु.ख, योग, वियोग, लाभ, हानि, शत्रु, मित्र, गृह, वन आदि प्रत्येक अवस्था मे साम्य बुद्धि रखते हैं। मन मे समस्त मानव व प्राणि समाज के हित की बात विचारते है एव उनको कल्याण पथ पर चलने के लिये, अपने सदुपदेश व आदर्श जीवन के द्वारा प्रेरित व उत्साहित करते है। इस विवेचन से स्पष्ट है कि साधु आरम्भिक, उद्योगिक, विरोधी एव सकल्पी चारो प्रकार की हिंसा को सर्वथा त्याग कर, अहिंसा महाव्रत का पूर्णतया पालन करते है।

(२) सत्य महाव्रत—साधु पुरुष सत्यव्रत का पूर्णतया पालन करते है। सासारिक कार्य—जिनमे व्यस्त होने से गृहस्थ प्राय: किसी न किसी अंश मे असत्य बोलता है या उसका व्यवहार असत्य होता है—उन समस्त सांसारिक कार्य एव तत्सम्बन्धी मोह त्याग देने से, साधु पुरुष लौकिक कार्य सम्बन्धी समस्त प्रकार के असत्यो से अपनी पूर्णतया रक्षा करते है। गृहस्थ व्यक्ति राजा, प्रजा, धनी, निर्धनी, स्वामी, भृत्य, विद्वान, मूर्ख आदि भिन्न-भिन्न स्थिति वाले मनुष्यो से भिन्न-भिन्न प्रकार का व्यवहार करता है। आन्तरिक भावों को प्राय. छिपाकर गृहस्थ किसी के प्रति अत्यन्त विनय प्रदर्शित करता है किसी के साथ रुक्षता का बर्ताव करता है, किसी की आज्ञा नम्रतापूर्वक शिरोधार्य करके पालन करता है, किसी को गर्व के साथ आदेश देता है। साधु उपरोक्त असद्-व्यवहार से दूर रहते है। धनी, निर्धनी, विद्वान, मूर्ख, ऊच, नीच, सदा-

चारी, पापी आदि भिन्न-भिन्न स्थिति वाले मनुष्य से एकसा बर्ताव करते हैं। न किसी की खुशामद करते हैं, न किसी से दुर्व्यवहार। साधु के मन में जैसे भाव होते हैं, उन्ही के अनुसार उनका व्यवहार होता है, वैसे ही शब्द उनके मुख से निकलते हैं। इस प्रकार साधु विचार, वचन एव व्यवहार मे सर्वथा पूर्ण सत्यता का प्रयोग करते हैं। साधु का लक्ष्य उच्च, शुद्ध, सच्चिदानन्द अवस्था का प्राप्त करना होता है। अतः वे अपने प्रत्येक कार्य व विचारधारा मे सत्यता से काम लेते हैं। पुरानी धारणा एव रूढियो की सत्यता की कसौटी पर परीक्षा करते हैं, यदि जाचने पर वे असत्य, भ्रमपूर्ण या हानिकर प्रतीत होती हैं, तो उनको तत्काल त्याग देते हैं। साधु पुरुष, क्रोध के आवेश मे, लोभ के वशीभूत होकर, शोकग्रस्त या हास्य मे भी कभी असत्य वचन नही कहते हैं। वास्तव मे काम, क्रोध, लोभ, शोक, हास्य आदि क्षुद्र वृत्तिया ही उनकी नष्ट हो जाती हैं। उनके वचन सदैव दूसरो के लिये हितकारी, मृदु एव सत्य होते हैं। इस प्रकार साधु पुरुष सत्य महाव्रत का पूर्णतया पालन करते हैं।

(३) अचौर्य महाव्रत—साधु पुरुष किसी व्यक्ति के किसी पदार्थ को भी उसकी सम्मति के बिना कभी ग्रहण नही करते हैं। सयम द्वारा इन्द्रियो के नियत्रित, काम, क्रोध आदि कषाय एव इच्छाओ के अत्यन्त क्षीण हो जाने से, साधु पुरुष की आवश्यकताये ही बहुत कम हो जाती हैं। शरीर को जीवित रखने के लिये साधारण अल्प भोजन की, ज्ञानवृद्धि के लिये शास्त्र की, शौच आदि कार्य के लिये कमडल की आवश्यकता होती है। इन आवश्यकताओ की पूर्त्ति गृहस्थ सुगमता के साथ श्रद्धा-पूर्वक कर देता है। इद्रियों के पूर्णतया नियत्रित हो जाने एवं आवश्य-कताओ के न रहने से, अन्य व्यक्ति के किसी पदार्थ के ग्रहण करने की इच्छा ही साधु पुरुष को नही होती। साधु पुरुष किसी व्यक्ति से किसी वस्तु की याचना नही करता है। यदि गृहस्थ श्रद्धा-पूर्वक आवश्यक वस्तु उन्हे भेट करना चाहे और उन्हें उसके ग्रहण करने की आवश्यकता प्रतीत

होवे, तो वे उस वस्तु को ले लेते है। यदि साधु पुरुष को गृहस्थी के वचन, व्यवहार या आकृति से यह भास जावे कि वह वस्तु को प्रेम व भक्ति से देना नही चाहता है और उस वस्तु को पृथक् होने मे उसे दुख होता है, तो वे उस वस्तु को कदापि ग्रहण नही करते है। साधु पुरुष किसी गृहस्थी को ऐसा उपदेश नही देते हैं, जिससे उसकी प्रवृत्ति चौर्य आदि कार्य में लगे या जिसके करने से अन्य व्यक्तियों के धन का किसी प्रकार से अपहरण हो। साधु पुरुष इस प्रकार अचौर्य महाव्रत को मन, वचन एवं व्यवहार में पूर्णतया प्रयोग में लाते है।

(४) ब्रह्मचर्य महाव्रत—भोगविलास से सर्वथा चित्त हट जाने के कारण, साधु पुरुष अपनी विवाहिता स्त्री का भी परित्याग कर देते हैं। स्त्री मात्र को माता, बहिन व पुत्री के तुल्य समझने लगते है। अपने हृदय मे कामवासना को प्रवेश नही होने देते है। जो भोगविलास उन्होने अपने प्रारम्भिक गृहस्थ जीवन में भोगे थे, उन्हे न याद करते है और न मन मे उनकी स्मृति को ही आने देते हैं। सयम के अकुश द्वारा मन को वश मे रखते हैं। उसको इधर उधर सांसारिक कार्यों में भ्रमण करने से रोकते है। इस भय से कि कहीं कामवासना उनके हृदय मे किसी गुप्त द्वार से प्रवेश न कर जावे, वे किसी स्त्री से भी एकान्त मे वार्तालाप नही करते है, न किसी स्त्री के भोगविलास, शृगार, रूप, रंग आदि की कथा कहते है, न श्रवण करते है और न इस प्रकार के विचार ही मन मे लाते हैं। भिक्षा वृत्ति मे भी साधु ऐसे तामसिक या राजसिक भोजन—जिससे कामवृत्ति उत्तेजित या प्रोत्साहित होती हो—ग्रहण नही करते हैं। नगर व ग्राम जहा पर स्त्री पुरुषों का समागम प्रत्येक समय अधिकता से रहता है, साधु पुरुष उस स्थान से दूर जंगल में रहना पसन्द करते है। इस प्रकार साधु ब्रह्मचर्य महाव्रत का सर्वथा पालन करते हैं। यदि ब्रह्मचर्य महाव्रत की धारण करने वाली साध्वी हो, तो उसको भी साधु के समान ही उपरोक्त व्रत को कठोरता के साथ पालन करना चाहिये।

(५) परिग्रह त्याग महाव्रत—वास्तव मे रागद्वेष, मोह आदि विभाव ही मनुष्य को सासारिक कार्यों मे फसाते एवं विषय वासना में लिप्त रखते है; अतएव साधु पुरुष के लिये आवश्यक है कि वह अपनी अन्तरात्मा को शुद्ध करे एव रागद्वेष आदि प्रवृत्ति को—जो आत्मा का वास्तविक बन्धन एव अन्तरग परिग्रह है—त्याग कर दे। साधु के लिये उचित है कि क्रोध को—जिसके आवेश मे आने से मनुष्य की बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है एव जिससे उसकी दशा उन्मत्त व्यक्ति सदृश हो जाती है—नष्ट कर दे। गर्व—जिसके मन मे प्रादुर्भाव होने से मनुष्य अपनी महत्ता प्रदर्शित करने के लिये, अन्य मनुष्यों का तिरस्कार करता है एव अहित करने के लिये उतारू हो जाता है—उस अभिमान को साधु अपने पास न आने दे। कपट—जिसकी तनिक सी मात्रा होने पर भी मनुष्य की आत्मा मलिन हो जाती है एव उसका व्यवहार कृत्रिम बन जाता है—उस कपट की भावना को साधु अपने हृदय मे से निकाल दे। लोभ—जो समस्त पाप एव दुष्ट आचरण का मूल है, जिसके कारण मनुष्य अनेक प्रकार के कुत्सित व निकृष्ट कार्य तक कर डालता है—उस लोभ को साधु अपने पास फटकने न दे। मोह, जिसके कारण सारा ससार दुखित है उस मोह को—चाहे वह अपने शरीर से हो या अपने शरीर से पृथक् स्त्री, पुत्र आदि कुटुम्बी जन, शिष्य, मित्र आदि अन्य मनुष्य, पशु, धन-सम्पत्ति आदि से हो—तिलाजली दे दे। सांसारिक वस्तुओ मे से किसी मे राग और किसी से द्वेष की भावना प्रायः मनुष्य के हृदय मे उत्पन्न हुआ करती है, उसको साधु अपने हृदय मे उत्पन्न न होने दे। साधु पुरुष के लिये उचित है कि वह गृहस्थ की भाति उपहास न करे, न किसी आवश्यक वस्तु के छिन्न-भिन्न या पृथक् होने या शरीर मे किसी प्रकार की पीडा होने से शोकग्रस्त हो। अपने शरीर एव प्रियजनों से ममत्व भाव के क्षीण एव अन्य पदार्थ सम्बन्धी लोभ के नष्ट हो जाने पर, साधु के लिये भय का कोई कारण शेष नही रहता है, इसलिये साधु को चाहिये कि वह

निर्जन वन, उपवन आदि स्थानो मे सिह की भाति निर्भय होकर विहार करे।

मन. वचन व शरीर पर पूरा नियत्रण रखे. न मन को इधर उधर भटकने दे, न उसमे किसी प्रकार के कुत्सित विचार आने दे। विचार कर वचन बोले एव शरीर पर भी अंकुश रखे। काम, क्रोध, आदि अशुभ भावनाये—जो आत्मा के शान्ति आनन्द स्वरूप को विकृत करने वाले अन्तरग परिग्रह है—त्याग देने पर साधु के लिये उपयुक्त है कि उनको उत्पन्न करने वाले बाह्य बन्धनों का भी परित्याग कर दे। मोह उत्पन्न करने वाले गृहस्थ जीवन के साथी स्त्री, पुत्र आदि प्रिय जन, गाय, तोता आदि पालतू पशु, पक्षी, गाड़ी, मोटर आदि वाहन, भोगविलास तथा ऐश्वर्य की नाना प्रकार की सामग्रिया एव साधन को छोड़ दे। आत्मोन्नति के उपयुक्त जीवन के लिये जो वस्तुये अत्यन्त आवश्यक हो, उन्ही तक अपनी आवश्यकताओं को परिमित कर ले। सीमित कर लेने पर ये आवश्यकताये बहुत थोडी रह जाती है। तपस्या आदि के द्वारा कर्म-बन्धन नष्ट एवं आत्मोन्नति करने के हेतु शरीर को जीवित रखना आवश्यक है, अत. उसकी मृत्यु से रक्षा करने के लिये भोजन ग्रहण करना पडता है। भोजन के लिये साधु भिक्षावृत्ति स्वीकार करते हैं। भिक्षा के लिये साधु दिन मे एक बार बस्ती मे जाते है। गृहस्थी श्रद्धापूर्वक सात्विक शुद्ध आहार भेट कर देते है, जिसको प्राप्त करके साधु नगर से वापिस चले आते है।

साधु प्रायः निर्जन स्थान मे रहते है; शौच आदि से निवृत्त होने के हेतु जल रखने के लिये पात्र की आवश्यकता होती है। इस आवश्यकता को पूरा करने के लिये साधु काष्ट का बना हुआ कमडल रखते हैं। स्वल्प मूल्य होने के कारण इसके चोरी जाने की भी आशका नही रहती है। इस आवश्यकता को श्रद्धालु गृहस्थ बडी सुगमता से पूरा कर देते है।

ज्ञानवृद्धि के हेतु साधु को प्रायः शास्त्र की आवश्यकता होती है।

इस आवश्यकता की पूर्ति करने के लिये, साधु नगरो मे विद्यमान शास्त्र भंडारों से उपयुक्त ग्रंथ स्वाध्याय के लिये ले लेते है अथवा उनकी इस आवश्यकता को गृहस्थ मनुष्य पूर्ण कर देते है। उपरोक्त वस्तुओं के अतिरिक्त साधुओं को किसी अन्य वस्तु की आवश्यकता प्रतीत नही होती, इसलिये वे अपनी आवश्यकताओं को उपरोक्त वस्तुओ तक ही सीमित कर देते हैं। किसी एक स्थान पर लगातार बहुत समय तक रहने से प्राय: मनुष्य को उस स्थान विशेष से प्रीति हो जाती है, इसलिये साधु किसी स्थान विशेष पर बहुत समय तक नही ठहरते हैं; विचरण करते रहते है। इस प्रकार साधु अन्तरग व बहिरग समस्त परिग्रह, विकार एवं विकार उत्पन्न करने वाली वस्तुओ का परित्याग करके शुद्ध, निर्मल, अपरिग्रही, स्वावलम्बी, सयमी, आत्मध्यानी बन जाते हैं।

४—प्रवृत्ति मार्ग (विधेयात्मक पक्ष)

उपरोक्त अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एव परिग्रहत्याग पंच व्रतो के वर्णन से स्पष्ट है कि उसमें केवल यही निश्चित किया गया है कि गृहस्थ व साधुस्थिति मे मनुष्य को किस-किस कर्म, वचन या भावना को त्याग देना चाहिये अर्थात् उपरोक्त पच व्रतो का विवेचन सच्चिदानन्द स्वरूप प्राप्ति के मार्ग का केवल निवृत्ति या निषेधात्मक पक्ष है। इस आदर्श मार्ग के जब तक दूसरे पक्ष प्रवृत्ति या विधेयात्मक का—अर्थात् किस-किस स्थिति मे मनुष्य के लिये क्या-क्या करना उचित है—वर्णन नही किया जाता है, तब तक सच्चिदानन्द स्वरूप प्राप्ति के मार्ग का कथन अधूरा रह जाता है। मुमुक्षु जीव के लिये यह जानना अत्यन्त आवश्यक है कि वह किस-किस स्थिति मे प्रतिदिन या आवश्यकता पडने पर क्या-क्या कार्य करे, जिससे वह अपने उद्देश्य मे सफल हो सके।

(क) गृहस्थ के षट आवश्यक नियम

चिदानन्द स्वरूप प्राप्ति मार्ग के उपरोक्त कथन से कुछ विधेयात्मक नियम उद्धृत किये जा सकते है। मनुष्य की गृहस्थ एव सन्यास अवस्था को दृष्टि मे रखने से इन नियमो मे भी कितना ही अन्तर पड जाता है, इसलिये प्रथम ही गृहस्थ अवस्था के अनुकूल इन विधेयात्मक नियमो का वर्णन किया जाता है :—

(१) देवोपासना—जिन्होने आत्म संयम, तपस्या, योग, ध्यान, आदि के द्वारा कर्मबन्धन को नष्ट करके शुद्ध जीवन्मुक्त अवस्था को प्राप्त कर लिया है; पूर्ण ज्ञान ज्योति के प्रज्वलित हो जाने से जिन्होंने संसार के समस्त पदार्थ एवं उनके समस्त गुण व अवस्थाओं को भलीभांति जान

लिया है; जो सासारिक समस्त दुखो से मुक्त होकर निजानन्द में—जो अनुपम, अलौकिक, अक्षुण्ण एव शास्वत है—मग्न हो गये है; ऐसी महान् आत्माये आराधाना के योग्य हैं। ये हमको मार्ग प्रदर्शन कराती हैं। ये ही अर्हत् या अरहन्तदेव[1] है। इन्ही की दिव्यवाणी से ससार के प्राणियो को आत्मज्ञान होता है, जिससे कितनी ही आत्माये ससार सागर से पार उतरने मे समर्थ हो जाती है। अन्त मे ये परमात्मा भौतिक शरीर को त्याग कर निर्वाण पद को प्राप्त हो जाते है, जहा शास्वत् सच्चिदानन्द स्वरूप में मग्न रहकर अनन्तकाल तक अनुपम दिव्य आनन्द का उपभोग करते है एव जिनके दिव्य ज्ञान मे जगत के समस्त पदार्थ अपने अनन्त गुण व पर्याय सहित आलोकित होते रहते है।

इनका ज्वलन्त उदाहरण, साहस, तपस्या, आत्मसयम, जितेन्द्रियता, धैर्य एव काम, क्रोध आदि मानसिक दुर्बलताओ पर इनकी विजय हमारे अन्धकारमय जीवन मे सूर्य प्रकाश सदृश है। आत्मोन्नति के लिये आवश्यक है कि इन आराधना योग्य, परम शान्त, सौम्य, भव्य, आनन्दमयी मुद्रा का चित्र[2] हमारे नेत्रो के सामने रहे। हम इनके गुणो का स्तवन करे एव इनके जीवन पर विचारे कि इन्होने किस प्रकार रागद्वेष आदि प्रवृत्ति पर विजय. कर्मबन्धन का क्षय, शुद्ध चिदानन्द स्वरूप प्राप्ति

---

[1] अर्हत् शब्द संस्कृत की अर्ह (पूजना) धातु से बना है, इसलिये अर्हत् उस महान आत्मा को कहते हैं, जो पूजने योग्य हो। अर्हत् शब्द का प्राकृत में अरहन्त हो जाता है। इन्हीं को सांख्य, योग, बौद्ध एवं जैन दर्शन ने अर्हत् या अरहन्त कहा है।

[2] कागज के फ़ोटो आदि चित्र अल्प काल में ही नष्ट हो जाते हैं, इसलिये इन चित्रों को चिरस्थायी बनाने के लिये यह उपयुक्त होगा कि ये चित्र पाषाण, पीतल आदि धातु के बनाये जावें और इनकी स्थापना उचित विशेष स्थान पर की जावे, जहां प्रत्येक व्यक्ति सुगमता से आ सके।

आदि महान कार्य किये है। ऐसा करने से गृहस्थ अपने आदर्श की ओर अग्रसर होगा। यही उपासना एव भक्ति है। गृहस्थ के लिये उचित है कि वह प्रतिदिन कुछ काल तक प्रात. या सायकाल या दोनों समय अपने सुभीते के अनुसार देवोपासना किया करे।

इसके अतिरिक्त वे महापुरुष, जो सत्पथ के पथिक बन कर अभी तक जीवन्मुक्त तो नही हुए हैं, परन्तु जो उस मार्ग का कितना ही भाग तय कर चुके है, जिनकी आत्मा कितने ही दर्जे तक शान्त, निर्मल एव स्वच्छ हो चुकी है, जो अपने सदुपदेश द्वारा ससार के प्राणियो को सत्मार्ग पर लगाते है, वे हमारे गुरु हैं। उनकी भक्ति करना भी हमारे लिये श्रेयस्कर है।

(२) स्वाध्याय—आत्मोन्नति के लिये आवश्यक है कि ज्ञानवृद्धि दिन प्रतिदिन होती रहे। ज्ञानवृद्धि स्व अनुभव या पर अनुभव द्वारा प्राप्त होती है। ससार के पदार्थ एव प्रतिदिन के व्यवहार व धारणाओ के ध्यानपूर्वक अवलोकन एवं उनपर मनन करने से स्व अनुभव प्राप्त होता है। जो ज्ञान व अनुभव पूर्व काल मे महान पुरुषों ने प्राप्त किया था और जिसको मानव समाज के उपकारार्थ ग्रथो मे अकित कर दिया है, वह ज्ञान पर अनुभव है। आत्मा को उन्नत एव ज्ञानविकास करने के हेतु, गृहस्थ का कर्तव्य है कि वह प्रतिदिन आध्यात्मिक, नैतिक, महान पुरुषो के जीवन चरित्र सम्बन्धी आदि विषयो पर ग्रथो का स्वाध्याय कुछ समय के लिये किया करे एव अध्ययन किये हुए विषय पर विचार व मनन किया करे। यदि कोई अधिक विद्वान त्यागी पुरुष किसी ग्रंथ को बाचे, तो उसको ध्यानपूर्वक श्रवण करे। ऐसा करने से गृहस्थी की आत्मा उन्नत होगी एव उसके ज्ञान मे वृद्धि व विचारो मे उदारता आवेगी।

(३) ध्यान या योग—मुमुक्षु जीव के लिये उचित है कि वह चिदानन्द आदर्श को सदैव अपने सामने रखे। आदर्श को सामने रखने के लिये अपने शुद्ध चिदानन्द स्वरूप का ध्यान करना आवश्यक है। ध्यान

करने के लिये मनुष्य को चाहिये कि वह प्रतिदिन कुछ समय तक प्रातः मध्याह्न या सायकाल या दो या तीन समय, एकान्त स्थान मे पद्मासन आदि आसनो मे से ऐसा आसन लगावे कि जिसमे स्थित होने से, न तो शरीर पर आलस्य का प्रभाव पडे और न शरीर मे तनावट आदि के कारण अरुचि उत्पन्न हो। मन्द-मन्द स्वांस अन्दर लेता एवं बाहर निकालता हुआ, अपने मन को इन्द्रियों के विषय, सासारिक चेतन व अचेतन पदार्थ एव स्त्री, पुत्र आदि प्रियजन की ओर से पूर्णतया हटावे। अपने शरीर को भी आत्मा से पृथक् समझकर, अपने मन व ध्यान को अपनी आत्मा मे स्थिर करे। विचार करे कि वह ज्ञानमयी है, अपने दिव्य ज्ञान नेत्रो से ससार के समस्त चराचर वस्तुओ को देख रहा है। ऐसा करने से अपूर्व ज्ञान का प्रकाश उसको प्रतीत होगा। फिर यह अनुभव करे कि वह आनन्दमयी है, पूर्ण आनन्द से ओतप्रोत है, आनन्द की लहरे, उसके हृदय मे एक के बाद दूसरी उठ रही है, यहा तक कि वे उसके समस्त शरीर मे व्याप्त हो गई है। ऐसा विचारने से वह एक अलौकिक, अनुपम, दिव्य आनन्द का अनुभव करेगा, जिससे उसका हृदय पुलकित हो जावेगा, उसे अपने भीतर एक अनोखी स्फूर्ति, उत्साह एव आत्मिक शक्ति का सचार प्रतीत होगा। इस आनन्द की उमग के सामने ससार के समस्त आमोद प्रमोद, एव इन्द्रिय विषय की तृप्ति से उत्पन्न हुए सासारिक सुख तुच्छ एव हेय प्रतीत होगे। यह आनन्द की उमंग उसके वास्तविक स्वरूप आनन्द की झलक है। यह ज्ञान का प्रकाश व आनन्द की तरग उसके आदर्श चिदानन्द स्वरूप का आभास है। चिदानन्द स्वरूप की यह झलक उस मुमुक्षु जीव को मानसिक एव शारीरिक कष्ट व आपत्ति मे शान्त चित्त एवं स्थिर रखेगी उसे विचलित नही होने देगी एव सन्देह व भ्रम के अन्धकार मे दीपशिखा के समान मार्ग को प्रकाशित रखेगी। आसन लगाने पर, यदि गृहस्थ मनुष्य का मन इन्द्रिय विषयों की ओर से खिचकर आत्मध्यान मे स्थिर न हो, तो वह गृहस्थी अपने परम आराध्यदेव अर्हत्

की शान्त सौम्य मुद्रा का चित्र अपने हृदय मन्दिर में विराजमान करे। विचार करे कि अर्हत् देव किस प्रकार अपने ज्ञानचक्षु से त्रिलोक के समस्त पदार्थों का अवलोकन कर रहे हैं एव अनुभव करे कि किस प्रकार वे अपने आनन्द स्वरूप मे मग्न होकर, अनुपम, अलौकिक दिव्य आनन्द का रसास्वादन कर रहे है। ऐसा अनुभव करने पर, वह व्यक्ति स्वयं अपने आत्मध्यान मे स्थिर हो जावेगा। उसे अपने भीतर आनन्द की लहरे बहती हुई दिखलाई देगी, जिससे प्रभावित होकर उसकी आत्मा आह्लाद से प्रफुल्लित हो उठेगी।

उपरोक्त ध्यान व समाधि के अतिरिक्त, मुमुक्षु जीव के लिये उचित है कि वह आत्म स्वरूप पर विचार एव मनन करे, यह भी विचारे कि ससार के समस्त प्राणियो की आत्मायें उसकी आत्मा के सदृश ही है, कर्मो के आवरण मे विभिन्नता होने के कारण ही, इन प्राणियो की आत्माओ मे विभिन्नता दिखलाई देती है। ऐसा विचारने से उसके हृदय मे प्राणी समाज के प्रति दया व प्रेम के भाव उत्पन्न होंगे एव क्षमा, नम्रता, सरलता आदि उच्च वृत्तियां भी जागृत हो जावेगी और उसकी आत्मा अधिक निर्मल एव उन्नत होने लगेगी।

(४) आलोचना—मुमुक्षु जीव के लिये श्रेयस्कर है कि वह प्रतिदिन ध्यान के अवसर पर या किसी अन्य समय, एकान्त मे बैठकर व्यतीत हुए दिन के अपने समस्त प्रशस्त व अप्रशस्त कार्यों की निष्पक्ष दृष्टि से समालोचना किया करे। दिन मे जो अनुचित कार्य उससे हुए हो, जो दुष्ट या कुत्सित विचार उसके हृदय मे आये हो या जो मिथ्या, कठोर, अहित अथवा अनुचित शब्द उसके मुख से निकले हो, उनपर पश्चात्ताप करे, उनके लिये अपने को धिक्कारे व भर्त्सना करे। यह सकल्प करे कि भविष्य मे मै ऐसे अनुचित कार्य नही करूगा और न ही ऐसे दुष्ट विचारो को हृदय मे स्थान दूगा अथवा अयोग्य शब्दों का उच्चारण करूगा। इस प्रकार निरन्तर आलोचना करते रहने से, उस गृहस्थ मनुष्य का चरित्र उच्च

एव हृदय विशाल हो जावेगा। पहिले जिस व्यवहार मे उसे कोई त्रुटि नही दीखती थी, समालोचना द्वारा चरित्र के अधिक स्वच्छ हो जाने पर, उसे उस व्यवहार मे अब त्रुटिया दिखलाई देने लगेगी। उनको दूर करने के लिये वह अधिकाधिक प्रयत्न करेगा, जिसका परिणाम यह होगा कि उसका चारित्र अधिक स्वच्छ व उज्वल एव उसका हृदय अधिक उदार व विशाल हो जावगा। उसके उच्च चरित्र की छाप उसके प्रत्येक व्यवहार एव कार्य पर पड़ने लगेगी। उसका व्यवहार अधिक सरल, शुद्ध एव निष्कपट हो जावेगा।

(५) सयम व तप—कल्याणपथ अनुगामी के लिये आवश्यक है कि वह ऐसे उपाय करे, जिसके करने से अपने हृदय मे जल तरग की भाति उठने वाली इच्छा व वासना पर नियत्रण प्राप्त हो जावे और उसका मन इन्द्रियो के विषयो मे लिप्त न हो। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिये यह उचित होगा कि वह इन्द्रिय विषय के क्षेत्र को सीमित करे। काम-वासना रोकने के लिये, अपनी विवाहिता स्त्री के साथ विषयसेवन के भी नियम बना ले। जिह्वा इन्द्रिय को वश मे रखने के लिये भोजन को नियमित कर ले, जैसे रात्रि भोजन त्याग, सप्ताह मे एक या दो दिन उपवास, नीरस भोजन ग्रहण आदि। इस प्रकार कामवासना व स्वादु रस की लोलुपता को सयमित करने से, वह अपनी स्पर्श एवं जिह्वा इन्द्रिय पर नियत्रण प्राप्त कर सकेगा। इसी भाति अन्य इन्द्रियो की विषयवासना मे वृद्धि करने वाले नाचघर, थ्येटर, क्लब, सिनेमा आदि मे सम्मिलित होने, देखने, गाना सुनने, सुन्दर चटकीले भड़कीले वस्त्र पहिनने, सौन्दर्य-वर्धक पदार्थों के सग्रहित करने आदि के नियमित करने से, वह मुमुक्षु जीव अपने नेत्र व कर्ण इन्द्रिय के विषयो पर पर्याप्त नियत्रण प्राप्त कर सकेगा। इतर फुलेल, क्रीम आदि सुगन्धित पदार्थों के प्रयोग को सीमित करने से, नासिका इन्द्रिय के विषय पर सयम प्राप्त कर लेगा। सासारिक वस्तुओ मे मोह व ममता होने के कारण मन इधर उधर भटकता है; अनेक प्रकार

के संकल्प विकल्प मन में उठा करते हैं। अतः सांसारिक वस्तुओं में मोह कम एवं नियंत्रित कर देने से, मन की चंचलता कम हो जाती है और उसको अपने मन पर नियत्रण कितने ही अंशों मे प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार पच इन्द्रिय एवं छठे मन के विषयों को सीमित कर देने से, इन्द्रियों पर संयम प्राप्त हो जाता है और विषयवासना कम एवं नष्ट हो जाती है। इन्द्रियों का वश मे कर लेना ही संयम है और यह संयम तप का मुख्य अंग है।

(६) परोपकार, सेवाधर्म या दान—देवोपासना आदि उपरोक्त पांच नियम जो दैनिक व्यवहार के लिये बतलाये गये है, उनमे केवल एक या दो घटे प्रतिदिन व्यतीत होते है। मनुष्य मन, वचन अथवा शरीर द्वारा, कुछ न कुछ कार्य प्रति क्षण करता रहता है। प्रति क्षण मनोभावना के अनुसार, उसके नवीन कर्मों का बन्धन होता रहता है। इसलिये गृहस्थ मनुष्य के लिये उचित है कि वह देवोपासना आदि उपरोक्त पंच आवश्यक कार्यों में एक या दो घटे तक लगे रहने से ही सन्तुष्ट न हो जावे। उसको अपने शेष घंटों के कार्य पर भी ध्यान रखना होगा कि कही प्रमाद के कारण इस शेष समय में अशुभ कर्मों का बन्धन न हो जावे। इस आवश्यकता के अतिरिक्त, गृहस्थ मनुष्य की एक और भी आवश्यकता है।

प्रत्येक मनुष्य सांसारिक वस्तुओं में ऐसा लिप्त है, स्त्री पुत्र आदि कुटुम्बी जन एव अपने शरीर की मोह ममता में ऐसा फसा है कि यह जानता हुआ भी कि उसकी आत्मा इन सब से पृथक एव भिन्न है, फिर भी उसका ममत्व उनसे नही छूटता है। इस ममता के भाव को कम करने एवं छुड़ाने की अत्यन्त आवश्यकता है। उपरोक्त दोनों आवश्यकताओ की पूर्त्ति की केवल एक ही औषधि है कि वह समस्त प्राणी समाज के प्रति प्रेम व सहानुभूति, दुखित जीवो पर दया, मानव समाज पर उपकार एवं उसकी सेवा की भावनायें अपने हृदय में धारण तथा वृद्धि करें और इन भावनाओं को हृदय के भीतर सुषुप्ति दशा मे ही न पड़ा रहने दे, वरन्

इन भावनाओं को कार्य रूप मे परिणत करने का भरसक प्रयत्न करे। सेवा के भाव हृदय में रखने, निस्वार्थ भाव से मानव एवं प्राणी समाज की सेवा मे लगने तथा उनका दुख दूर करने के लिये, गाढ परिश्रम से प्राप्त किया हुआ द्रव्य व्यय करने एव शारीरिक कष्ट उठाने से उपरोक्त दोनों आवश्यकतायें पूर्ण हो जाती है। परोपकार की भावना हृदय में रहने से, अशुभ कर्मों का बन्धन नही होता है, केवल शुभ कर्म ही बंधते हैं। अन्य प्राणियों की प्रेमपूर्वक सेवा करने में जो शारीरिक कष्ट या वेदना उसको उठानी पडती है, अथवा अन्य मनुष्य या समाज के हितार्थ, जो धन व्यय करता या दान देता है, उससे उसकी ममत्व भावना कम एव नष्ट होती है। इस प्रकार परोपकार, सेवाधर्म या दान गृहस्थ के लिये सब से अधिक उपयोगी एव आवश्यक है।

गृहस्थ मनुष्य का कर्तव्य है कि वह अपने कुटुम्बी, सम्बन्धी व निकट जन के कल्याण व लाभार्थ कार्य करे, तथा समाज व देश के उद्धार एवं समृद्धि के कार्यों में प्रयत्नशील रहे। निकटवर्त्ती पशु, पक्षी आदि जीवो को भी सुख पहुचावे, भूल कर भी कष्ट न दे। गृहस्थी के लिये उचित है कि धीरे-धीरे, परन्तु दृढतापूर्वक अपने सेवाधर्म को अपनी समाज एवं देश तक ही सीमित न रखे, किन्तु उसकी सीमा को बढा कर ससार की समस्त मानव तथा पशु समाज तक कर दे, ससार के समस्त प्राणियो के कल्याण की बाते सोचे एव विचारों को कार्यान्वित करे। परोपकार के समस्त कार्य चार भाग मे विभक्त किये जा सकते है :—

(क) आहार दान—साधु, त्यागी एव सत्पुरुषों को शुद्ध, सात्विक आहार देना, बुभुक्षित, पीडित, पगु आदि अशक्त व्यक्तियो को भोजन देना, अनाथ बालको का पालन पोषण, अनाथालय आदि की स्थापना, निर्धन एव जीविका हीन आदि मनुष्यों को व्यापार आदि कार्यों में लगा कर उनकी आजीविका का प्रबन्ध कर देना आदि कार्य आजीविका सम्बन्धी सेवा धर्म मे सम्मिलित है।

(ख) विद्यादान—बाल-बालिकाओं को ऐसी शिक्षा देना, दिलाना या धन आदि द्वारा सहायता देना जिससे उनके ज्ञान का विकास हो एवं आध्यात्मिक, नैतिक, व्यापारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय ज्ञान की वृद्धि हो ताकि वे योग्य नागरिक बनकर जीवन निर्वाह सुगमता से कर सके, अपने कर्तव्यो का पालन उचित प्रकार से करते हुए, न्यायोचित विधि से धनोपार्जन एव अपनी इच्छाओ की पूर्त्ति कर सके और अपने अन्तिम लक्ष्य व आदर्श को आखो मे ओझल होने न दे। शिल्प, वाणिज्य आदि आजीविका सम्बन्धी शिक्षा, समाज उपयोगी विज्ञान आदि समस्त प्रकार की शिक्षाये इसी विद्यादान या शिक्षा सम्बन्धी सेवाधर्म में गर्भित है।

(ग) औषधिदान—रोगग्रस्त, व्याधियुक्त मनुष्यों की सेवा, सुश्रूषा एव चिकित्सा का उचित प्रबन्ध करना. निशुल्क चिकित्सालय खोलना, रोगी पशुओं के लिये अस्पताल जारी करना, ऐसे कार्य करना, जिनसे जनता का स्वास्थ्य ठीक रहे, रोग न फैले, वायु स्वच्छ रहे, उपरोक्त कार्यों मे सहायता देना, अन्य मनुष्यो को ऐसे कार्य करने के लिये प्रेरणा या उत्साहित करना आदि समस्त कार्य इस चिकित्सा सम्बन्धी सेवाधर्म या औषधिदान मे गर्भित हैं।

(घ) विपत्ति निवारण या अभयदान—यदि कोई मनुष्य किसी कष्ट से पीड़ित हो, विपत्ति मे ग्रसित हो या किसी भय से कम्पित हो, तो उस कष्ट, विपत्ति एवं भय का निवारण करे। समाज व देश पर आये हुए अग्नि एव जल प्रकोप, प्लेग, हैजा, इन्फ्लुयंजा आदि महामारी तथा अन्य प्रकार की आकस्मिक आपत्तियो को दूर करे। शत्रु, डाकू आदि मनुष्यों के आक्रमण या उनके द्वारा सताये व पीडित हुए देशवासियों की रक्षा करे। देश, समाज, परिवार आदि की उपरोक्त प्रकार की आकस्मिक विपत्ति एव भय से रक्षा करना इस विपत्ति निवारण सम्बन्धी सेवाधर्म या अभयदान में सम्मिलित है।

(ख) सन्यासी के षट आवश्यक नियम

साधु जीवन की परिस्थिति ध्यान मे रखने से, उपरोक्त देवोपासना आदि षट विधेयात्मक नियमों के स्वरूप मे कितना ही अन्तर पड जाता है। इसलिये सन्यास अवस्था की दशा मे इन नियमो के स्वरूप का कुछ वर्णन करना अनुचित न होगा।

(१) देवोपासना—काम, क्रोध आदि क्षुद्र वृत्तियां जिनकी नष्ट हो गई है और जो निरन्तर अभ्यास द्वारा अपनी आत्मा के उन्नत करने में उद्यमशील है, ऐसे साधु मुनियो के लिये उचित ही है कि वे अपने आदर्श—शुद्ध चिदानन्द परमात्म अवस्था—को अपने ज्ञाननेत्रो के सन्मुख रखे, एव चिदानन्द, शान्त, सौम्य मुद्रा का चित्र अपने हृदय मन्दिर मे विराजमान करे। वे सुधारूप, वीतराग, शान्त मुद्रा, अलौकिक दिव्यज्ञान ज्योति, अनुपम दिव्य आनन्द, अनन्त सामर्थ्य आदि गुणो का स्तवन करे, उन पर विचारे एव मनन करे। ऐसा करने से आदर्श का प्रज्वलित प्रदीप सदैव प्रदीप्त रहेगा, उनके मार्ग को प्रकाशित रखेगा एव ध्येय की ओर अग्रसर होने के लिये उत्साहित करेगा। साधु जीवन की उच्च मानसिक स्थिति को दृष्टि में रखते हुए, यह आवश्यक प्रतीत नहीं होता कि ध्यान आदि कार्य के लिये चिदानन्द, शान्त, परमात्म अवस्था का धातु पाषाण आदि का बना हुआ कोई चित्र या मूर्त्ति उनके नेत्रों के सन्मुख रहे या इस कार्य के लिये वे किसी देवालय आदि स्थान में जावें। उनमे इतनी सामर्थ्य उत्पन्न हो जाती है कि वे उन महान आत्माओं के गुण, तपस्या, शान्त मुद्रा आदि के सुन्दर चित्र अपने हृदय में भलीभाति खीच सकते हैं। तथापि देवालय में जाकर शान्त अर्हत् अवस्था की मूर्त्ति के दर्शन करना उनकी आत्मोन्नति मे बाधक नही है, उस शान्त सौम्य मुद्रायुक्त मूर्त्ति के सन्मुख परमात्म अवस्था के गुणो का स्तवन कर सकते है, अपने परम आराध्य देव शुद्ध चिदानन्द परमात्मा का गुणानुवाद ही देवोपासना है।

(२) स्वाध्याय—आत्मिक उन्नति के हेतु, गृहस्थ के समान साधु के लिये भी उपयुक्त ग्रंथों का अध्ययन, श्रवण एवं मनन करना उचित है। स्वाध्याय से ज्ञान वृद्धि एव मानसिक शक्तियों का विकास होता है। ज्ञान वृद्धि से प्रत्येक वस्तु के यथार्थ समझने में सहायता मिलती है एवं आदर्श के वास्तविक स्वरूप का अनुभव विशद रूप से होता है।

(३) ध्यान या योग—साधु के लिये उचित है कि वे पद्मासन आदि उपयुक्त आसन लगा कर, आत्मस्वरूप का ध्यान गृहस्थ से कहीं अधिक करे; अपने शुद्ध ज्ञानानन्द स्वभाव का अनुभव करे; अन्तर्स्थित आनन्दस्वरूप में मग्न होकर, अमृतमयी सुख का आस्वादन करें। सतत अभ्यास द्वारा इस ध्यान, योग व समाधि मे उन्नतशील रहें; धीरे-धीरे समय मे वृद्धि करें; दिन में एक बार ध्यान लगा लेने पर ही सन्तुष्ट न रहे, प्रातः, मध्याह्न एवं सायंकाल तीन बार ध्यान लगावे तथा प्रति समय आत्मध्यान में लीन रहने का प्रयत्न करते रहें। ध्यान के आसन आदि के सम्बन्ध में श्री अमितगति आचार्य ने कहा है :—

न संस्तरोऽश्मा न तृणं न मेदनी,
विधानतो नो फलको विनिर्मितम्।
यतो निरस्ताक्ष कषाय विद्विषः,
सुधीभिरात्मैव सुनिर्मलो मतः॥
न संस्तरो भद्र समाधिसाधनं,
न लोकपूजा न च संघमेलनम्।
यतस्ततोऽध्यात्मरतो भवानिशं,
विमुच्य सर्व्वामपि बाह्यवासनाम्॥

अर्थात् ध्यान करने के लिये पाषाण की शिला, कुशा या पृथ्वी के आसन की आवश्यकता नहीं है। विद्वानों के लिये वह आत्मा ही स्वयं पवित्र आसन है, जिसने क्रोध आदि कषाय (कुवृत्ति) व इन्द्रिय विषय वासना रूपी शत्रु का संहार कर दिया है। हे मित्र! आत्मध्यान के

लिये न किसी आसन की, न लोकपूजा की और न सभा सोसायटी की आवश्यकता है। जिस किसी प्रकार अपने हृदय से बाह्य वस्तुओं की वासना को निकाल कर, अपने ही स्वरूप मे प्रति क्षण लवलीन रहे, यही ध्यान एवं समाधि है।

योग के सम्बन्ध मे श्री भगवद्गीता मे कहा है :—

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवातिष्ठते।
निस्पृहः सर्व कामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥६।१८।
यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योग सेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥६।२०।

अर्थात् जिस समय समस्त वासनाओ की इच्छा से मुक्त होकर साधक का निश्चल चित्त आत्मा मे ही स्थिर होता है, उस समय उसको योग युक्त कहते है। योगाभ्यास से निरुद्ध हुआ चित्त जिस समय स्थिर होता है, उस समय वह आत्मा अपनी आत्मा को आत्म द्वारा साक्षात् देखता हुआ आत्मा मे ही सन्तुष्ट होता है। योग के सम्बन्ध मे योगदर्शन मे कहा है :—

योगश्चित्तवृत्ति निरोधः। तदा दृष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥१।१-२।

अर्थात्—जिस समय चित्त की वृत्तियो का निरोध किया जाता है, उस समय आत्मा (दृष्टु) अपने स्वरूप मे स्थिर हो जाता है। यही—चित्तवृत्तिनिरोध—योग है। योगदर्शन के विभूतिपाद मे कहा है :—

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव[1] समाधिः ॥३॥

अर्थात्—जब ध्याता का ध्यान ही ध्येय के आकार रूप हो जाता है, कोई भेद ध्याता, ध्यान व ध्येय में नही रहता है, उस समय समाधि होती है।

---

[1] ध्यान का स्वरूप शून्य के समान विदित होता है अर्थात् ध्येय के ध्यान में मग्न होने से ध्याता को अपनी विभिन्नता का ज्ञान नहीं रहता है।

समाधि अवस्था में ध्याता, ध्येय और ध्यान तीनों मिल जाते है। आत्मा अपना ही ध्यान अपने ही द्वारा करता है, इनमे कोई भेद नही रहता है। इसको बड़े ही सुन्दर छन्दों में कविवर दौलतराम जी ने छहढ़ाले में कहा है :—

निज मांहि निज के हेत निज करि, आपको आपै गह्यौ।
गुण गुणी ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय, मंझार कछु भेद न रह्यौ॥
जहां ध्यान ध्याता ध्येय को न, विकल्प वच भेद न जहां।
चिद्भाव कर्म चिदेश करता, चेतना किरया तहां॥
तीनों अभिन्न अखिन्न शुध, उपयोग की निश्चल दसा।
प्रगटी जहां दृग् ज्ञान व्रत ये, तीनधा एकैलसा॥[1]

ध्यान मे मग्न होने से जिस आनन्द का आस्वादन होता है, जिससे हृदय प्रफुल्लित एव शरीर पुलकित हो जाता है, उससे साधु के मन मे इतनी दृढता, साहस, धीरता एवं सामर्थ्य उत्पन्न हो जाती है कि साधु भूख, प्यास, उष्णता, शीत आदि के कष्ट, मनुष्य. पशु, मच्छर आदि जन्तु द्वारा होने वाली पीडा को शान्ति के साथ हर्षपूर्वक सहन करता है। ये शारीरिक कष्ट व पीडाये तपस्यायुक्त सन्यासी जीवन मे प्रायः होती

---

[1] **जब आत्मा अपने लिये, अपने द्वारा अपने स्वरूप में अपने को ही ग्रहण करता है, जब गुणी व गुण में, ज्ञाता, ज्ञान व ज्ञेय (जिसको जाना जाता है) में कुछ भेद नहीं रहता है, जब ध्याता, ध्यान व ध्येय (जिसका ध्यान किया जावे) में किसी प्रकार का भेद विचार या शब्द द्वारा नहीं किया जा सकता, जहां चेतन कर्त्ता, चैतन्य कर्म व चेतन क्रिया तीनों मिल कर एक हो गये हैं, उनमें कोई भेद नहीं रहा है, जहां आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप में स्थिर हो गया है और जब आत्मा को अपने वास्तविक स्वरूप का दर्शन, अनुभव एवं तल्लीनता होकर एकपने का अनुभव होता है, वही अवस्था समाधि अवस्था है।**

ही रहती हैं। शरीर से मोह ममता हटाने व आत्मशक्ति को प्रबल करने के हेतु साधु के लिये आवश्यक है कि वह कभी-कभी शरीर की अस्थिर, क्षणभंगुर अवस्था एव ससार की परिवर्तनशील दशा पर भी चिन्तवन किया करे।

वह विचार करे कि ससार मे स्त्री, पुत्र, पशु, गृह, धन सम्पत्ति आदि समस्त चेतन व अचेतन पदार्थ क्षणभगुर एव नाशवान हैं। स्वयं उसका शरीर नष्ट होने वाला है। जब रोग, व्याधि, आपत्ति या मृत्यु आती है, तो इस शरीर की कोई रक्षा नही कर सकता। यह जीव अपने कर्मों के कारण, भिन्न-भिन्न योनि मे जन्मता एव नाना प्रकार के दुख व आपत्तियो को झेलता हुआ भ्रमण करता है। मनुष्य जो कुछ कार्य करता है, उसका फल स्वय भोगता है, उसका कोई साझीदार नही होता। स्त्री, पुत्र, मित्र, सेवक आदि कोई भी मनुष्य उसके साथ नही जाता है। यह शरीर मास, रुधिर, मल, मूत्रादि दुर्गन्धित एवं मलिन वस्तुओ का बना है, इसकी नासिका, गुदा आदि नव द्वारो से सदा अत्यन्त घिनावना मल बहता है। यह शरीर भौतिक पदार्थों से उत्पन्न हुआ है, मृत्यु होने पर छिन्न-भिन्न हो जाता है, ऐसे घिनावने, मल, मूत्रादि दुर्गन्धित पदार्थों से भरे हुए, नष्ट होने वाले शरीर से मोह ममता करना मूर्खता है। स्त्री, पुत्र आदि कुटुम्बी जन, मित्र, सेवक आदि अन्य मनुष्यो का सम्बन्ध तो शरीर ही से है, इसलिये उनसे ममता करना और भी मूर्खता है। इस प्रकार की बार-बार भावना एवं विचारने से अपने शरीर एव संसार के अन्य चेतन व अचेतन पदार्थों से मोह व ममता नष्ट हो जाती है। साधु का चित्त कभी कभी बाह्य कष्टो से खेदखिन्न हो जाता है, ऐसी दशा मे उपरोक्त भावना एव विचार से फिर दृढता आ जाती है, चित्त स्थिर हो जाता है और साधु फिर ध्यानारूढ हो जाता है।

(४) आलोचना—अपने पूर्व कृत कार्यों का पर्यावलोकन मुनि के लिये गृहस्थ से भी अधिक आवश्यक है। अपने आदर्श की प्राप्ति एवं

नवीन कर्म-बन्धन निरोध के हेतु, साधु के लिये आवश्यक है कि उसको अपने मन, वचन एवं शरीर पर पूर्ण नियंत्रण प्राप्त हो। ऐसा देखा जाता है कि वे व्यक्ति जो एकान्त मे रहने, विचारने एवं मनन करने का कार्य अधिक करते हैं, उनमें एक प्रकार की सनक सी उत्पन्न हो जाती है, उनके हृदय मे अनेक प्रकार के संकल्प विकल्प उठा करते हैं, उनका मन स्वेच्छाचारी होकर सकल्प सागर में गोते लगाया करता है, जिसके कारण उन्हे अपने शरीर की भी सुध नही रहती है। साधु के लिये नितान्त आवश्यक है कि वे अपने मन रूपी तुरग को बिना लगाम के न विचरने दें, अनुचित विचारों को हृदय में न आने दें, न काम क्रोध आदि अप्रशस्त भावना को अपने अन्तस्थल में स्थान दें, न शरीर सम्बन्धी किसी कार्य में प्रमाद को पास फटकने दें। मन, वचन व शरीर को संयमित रखने के हेतु, साधु के लिये आवश्यक है कि वे प्रतिदिन अपने विचार, मानसिक चेष्टा, वचन एवं शरीर सम्बन्धी कार्यों की सूक्ष्म दृष्टि से, कठोरता के साथ आलोचना किया करें, प्रत्येक त्रुटि पर पश्चात्ताप करे एवं भविष्य मे उन त्रुटियो के न करने का संकल्प करे। ऐसा करने से उनका मन स्वच्छ एवं चरित्र निर्मल हो जावेगा तथा उनको अपने मन, वचन तथा शरीर पर पूरा नियंत्रण प्राप्त हो सकेगा।

(५) तप—मनोभावना को शुद्ध एवं चरित्र को निर्मल, स्वच्छ रखने से मनुष्य के नवीन कर्मबन्धन का निरोध हो जाता है। यदि शुभ नवीन कर्म का बन्धन होता है, तो वह क्षण स्थायी रहता है। उसके अभी तक पूर्व संचित कर्मों के समूह का बन्धन विद्यमान है, जब तक वह पूर्व सचित समस्त कर्मबन्धन समूल नष्ट नही होता, तब तक परमात्म अवस्था प्राप्त नहीं हो सकती। पूर्व संचित कर्म-शक्ति युक्त परमाणुओं मे से केवल वे कर्म परमाणु—जिनके उदय (कार्य में परिणत होने) का अवसर आ जाता है—कार्यान्वित होकर, अपना फल व प्रभाव दिखाकर, प्रति क्षण आत्मा के सम्बन्ध से पृथक् होते रहते हैं। शेष कर्म परमाणुओं

का समूह, सूक्ष्म कार्माण शरीर के रूप में, पूर्ववत सचित रहता है। यदि वे कर्म परमाणु, अपनी निश्चित अवधि के अनुसार फल देकर, आत्मा के सम्बन्ध से धीरे-धीरे पृथक् व क्षीण होते रहे, तो इन समस्त पूर्व संचित कर्मों के क्षय अर्थात् कर्मबन्धन से सर्वथा मुक्त होने के लिये युग चाहियें। इसके लिये मुमुक्षु जीव को अनेक योनियां धारण तथा अक्षुण्ण, अथक प्रयत्न करते रहना होगा। यदि इन आगामी योनियो मे वह अपनी मनोभावना शुद्ध एवं चारित्र निर्मल न रख सका, तो फिर नवीन कर्मबन्धन प्रारम्भ हो जावेगा। नवीन कर्मबन्धन के प्रारम्भ हो जाने से भविष्य मे कर्मबन्धन से मुक्त हो जाना अत्यन्त दुष्कर हो जावेगा। इस लिये ऐसा उपाय सोचना होगा कि जिसको प्रयोग मे लाने से पूर्व सचित कर्म शक्ति, अपनी निश्चित अवधि से पूर्व ही, कार्य मे परिणत होकर तथा अपना प्रभाव (फल) दिखाकर या बिना दिखलाये ही नष्ट हो सके। ऐसा करने पर पूर्व सचित कर्म, अपनी अवधि से पहिले ही, आत्मा के सम्बन्ध से पृथक् हो जावेगे एव मुमुक्षु जीव, सम्पूर्ण कर्मबन्धन को अल्प काल मे ही काटकर, शुद्ध परमात्म अवस्था प्राप्त कर सकेगा।

उपरोक्त कार्य सिद्धि का उपाय केवल एक है, वह है तपस्या ! तपस्या के द्वारा साधु क्षुधा, तृषा, शीत, उष्णता, कठोर भूमि पर शय्या आदि के कष्ट व आपत्तियो को स्वेच्छापूर्वक आह्वानन करता है, उन्हे हर्ष पूर्वक, शान्ति के साथ, बिना मन को विचलित व मलिन किये सहन करता है। इन आमन्त्रित व आह्वानन किये हुए कष्टों का सहन करना उन कर्मों का—जो प्रतिदिन साधारण रूप से अपनी अवधि के अनुसार कार्यरूप मे परिणत होते व फल देते है—फल नही हो सकता। स्वेच्छापूर्वक आह्वानन करके लगातार कष्ट सहन करने से, पूर्व सचित कर्मों में से कुछ कर्म, अपने कार्यान्वित होने की अवधि से पहिले ही, कार्य रूप में परिणत हो जाते है। कार्यान्वित हो जाने से, उनकी कर्मशक्ति नष्ट हो जाती है एवं उनका (कर्मों) सम्बन्ध आत्मा व सूक्ष्म कार्माण शरीर से पृथक् हो

जाता है । स्वेच्छापूर्वक कष्ट सहन करना ही इन कर्मों का फल होता है । इस प्रकार तपस्या के द्वारा स्वेच्छापूर्वक कष्ट सहन करने से, पूर्व संचित कर्मशक्ति का क्षय किया जा सकता है ।

इसके अतिरिक्त तपस्या से एक और भी लाभ है । जिस प्रकार अग्नि मे तपाने से स्वर्ण शुद्ध एवं कान्तिमान हो जाता है, उसी प्रकार तपस्या से आत्मा शुद्ध एव आत्मिक शक्ति से स्फुरित हो जाता है, इन्द्रियो पर सयम प्राप्त हो जाता है, वासनायें नष्ट हो जाती हैं, शरीर से ममता भाव छूट जाता है, आत्मा उन्नत, स्फटिक मणि के समान उज्ज्वल व निर्मल हो जाता है, ज्ञानशक्ति अधिक विकसित एवं आत्मस्वरूप मे स्थिरता प्राप्त हो जाती है, शुद्ध ज्ञानानन्द स्वरूप की झलक आने लगती है । इस तपस्या को दो मुख्य भेदो में विभक्त किया जा सकता है :—

(क) बहिरंग तप—इसमे अनेक प्रकार के शारीरिक कष्टो का स्वेच्छा से आह्वानन किया जाता है एवं इनको शान्ति व हर्षपूर्वक, मन को बिना क्षुब्ध व विचलित किये, सहन किया जाता है । इस शारीरिक कष्ट के सहन करने से, पूर्व संचित कर्मो का क्षय बडे वेग के साथ होता है एवं इन कष्टो के निश्चल मन व शान्ति के साथ सहन करने से, शरीर एव इन्द्रिय वासना पर नियत्रण प्राप्त हो जाता है । इन नियंत्रित कष्टो को निम्न-लिखित ६ भागो मे विभक्त कर सकते है :—

१. अनशन—उपवास करना । साधु दिन मे केवल १ बार भोजन करते व जल पीते हैं । कभी-कभी उपवास रखते है । साधु का एक उपवास पहिले दिन के मध्याह्न से तीसरे दिन के मध्याह्न तक अर्थात् ४८ घंटे का होता है । उपवास मे न आहार, न जल ग्रहण करते है । उपवास कभी एक दिन का कभी लगातार कई-कई दिन तक के होते है । क्षुधा व तृषा के कारण, साधु विह्वल एवं दुखित नही होते, न चित्त को विच-लित होने देते है । वे अहिसा आदि पंच महाव्रत एव देवोपासना आदि षट आवश्यक नियमों का पालन भलीभांति करते रहते है ।—

२. अवमोदर्य—प्राय: देखा जाता है कि मनुष्य के लिये किसी भोज्य पदार्थ का सेवन न करना सुगम होता है परन्तु भोज्य पदार्थ का खाना प्रारम्भ करके, बिना उदर भरे एव इच्छा पूर्त्ति किये, मध्य ही में छोड़ देना कठिन होता है। साधु इस इच्छा पर नियंत्रण कर लेते है। जब वे भोजन करते है, तो उदर की पूर्ण पूर्त्ति एवं इच्छा की पूरी तृप्ति कदापि नही करते है, सदा उदर पूर्त्ति से कम भोजन करते है।

३. रसपरित्याग—रसनेन्द्रिय पर सयम रखने के लिये प्राय: दूध, दही, घृत, मिष्ट, लवण एव तेल आदि रसो मे से कुछ रसों का त्याग करते रहते है। किसी दिन बिना नमक के भोजन करते है, कभी मीठे रस को त्याग देते है। नीरस भोजन ग्रहण से स्वादु रस मे प्रीति नही रहती है। इस प्रकार रसना इन्द्रिय पर पूर्ण नियत्रण प्राप्त कर लेते है।

४. व्रत परिसख्यान—साधु भोजन के सम्बन्ध में कभी-कभी ऐसे नियम बना लेते है कि यदि अमुक प्रकार का भोजन आज मिलेगा, तो करेंगे अन्यथा नही। नगर व ग्राम मे भोजन के लिये जाते है, परन्तु अपने मनोगत नियम की सूचना किसी व्यक्ति को नहीं देते। यदि उनके नियम अनुसार, भोजन मिल गया, तो ग्रहण कर लेते है, अन्यथा भोजन के बिना ही वापिस लौट आते है।

५ विविक्त शय्यासन—साधु किसी प्रकार की सेज, बिछौना, कम्बल, चटाई आदि वस्तु का प्रयोग नही करते है। एकान्त स्थान में भूमिपर बिना किसी वस्त्र, चटाई या कुशा के बिछाये ही शयन करते है। कठोर, ककरीली, भूमि के चुभने आदि के कष्टो को शान्तिपूर्वक सहन करते है।

६. कायक्लेश—उपरोक्त पच प्रकार तप के अतिरिक्त साधु जन अन्य कष्टो को भी स्वेच्छा से आमन्त्रित एव हर्षपूर्वक सहन करते है।

(ख) अतरंग तप—इसके द्वारा आत्मा के शुद्ध स्वरूप चारित्र में उन्नति एव ज्ञान में वृद्धि की जाती है। काम, क्रोध आदि प्रवृत्ति या प्रमाद

वश से जो त्रुटि साधु से हुई हो, उसे गुरु के समक्ष रखे। गुरु जो प्रायश्चित निश्चित करें, उसे हर्षपूर्वक शिरोधार्य करे। ऐसा करने से उसका चरित्र दिन पर दिन उन्नत एवं शुद्ध होता जावेगा। जो साधु अपने से ज्ञान व चरित्र में अधिक उन्नत है, उनकी संगति मे रहे तथा उनके उपदेश को आदरपूर्वक हृदय में धारण करे एव कार्यान्वित करे। यदि किसी साधु के शरीर मे कोई रोग उत्पन्न हो जावे अथवा किसी अन्य प्रकार की पीडा हो जावे तो उसकी सेवा सुश्रूषा करे। ज्ञानवृद्धि के लिये आवश्यक है कि उपयुक्त ग्रंथो का निरन्तर अध्ययन एव मनन करे। विद्वान साधु से पढे, अल्पज्ञानी साधुओं को पढावें। चारित्र को अधिक शुद्ध व निर्मल करने के हेतु आवश्यक है कि स्त्री पुत्र, शिष्य आदि मनुष्य, पशु, गृह, भोजन, वस्त्र आदि पदार्थों से ममता भाव को सर्वथा त्याग दे एव काम, क्रोध आदि अशुभ प्रवृत्तिया जो आत्मोन्नति में बाधक हैं, छोड दे। एकान्त स्थान मे बैठ कर, आत्म स्वरूप, कर्मबन्धन, ससार की दशा आदि पर विचार करे तथा पद्मासन आदि उचित आसन लगाकर, मन को इन्द्रिय विषय से हटा कर, एकाग्र चित्त होकर, आत्मा के शुद्ध ज्ञानानन्द स्वरूप मे ध्यान एवं समाधि लगावे। इस प्रकार अतरंग तप द्वारा साधु की ज्ञानशक्ति अधिक विकसित एवं चरित्र अधिक उन्नत होता है। बहिरंग तप द्वारा साधु को अपने शरीर एवं इन्द्रियवासना पर नियंत्रण प्राप्त हो जाता है तथा उसके द्वारा पूर्व संचित कर्मबन्धन का नाश हो जाता है।

६ परोपकार—साधु के पास किसी प्रकार की भौतिक सम्पत्ति नही होती और न ही वे गृहस्थ सदृश नगर या ग्राम मे रहते हैं। इसलिये उस प्रकार का सेवाधर्म जो गृहस्थ के लिये उपयुक्त है, साधु के लिये कदापि उचित नही हो सकता। साधु की परिस्थिति भिन्न होने के कारण, उसके उपयुक्त सेवाधर्म के स्वरूप में अन्तर हो जाता है। साधु की स्थिति ध्यान में रखते हुए, यह उचित जान पडता है कि वे ससार का उपकार अपने ज्ञान एव चारित्र द्वारा करें। जो मनुष्य उनके पास आवे अथवा

जिनका संसर्ग उनमे होवे, उनको ऐसा उपदेश दें, जिससे उनकी आध्यात्मिक, नैतिक आदि उन्नति हो एव उनकी आत्मिक शक्तियों का विकास हो। अपने उपदेश व चरित्र बल से, श्रोतागण को सच्चरित्र होने के लिये प्रेरित व उत्साहित करे। उपस्थित जनता की स्थिति समझ कर, उसे जुआ खेलने, व्यभिचार मे लगने, मास भक्षण करने, शिकार खेलने, मदिरा पीने, चोरी आदि व्यसन को त्याग देने के लिये उत्साहित करे तथा उसमे जो रीति रिवाज सच्चरित्रता या स्वास्थ्य विरुद्ध अथवा अनुपयोगी हों, उनके छोड़ने के लिये प्रेरणा करे। उनको पूर्णतया या कुछ अशो मे, पच व्रत पालने, षट नियमो के धारण करने, समाज व राष्ट्र के हितवर्धक कार्य करने के लिये अग्रसर करे। यदि बहुत से साधु एक साथ सघ के रूप मे रहते हों, तो विद्वान मुनि का कर्तव्य है कि अन्य अल्प ज्ञानी साधुओं को ज्ञान की शिक्षा दे, उनकी अव्यक्त ज्ञानशक्ति के विकसित एव चारित्र के उन्नत होने मे सहायता करे। यदि सघ मे कोई साधु अस्वस्थ हो जावे, तो अन्य साधुओ के लिये उचित है कि उसकी सेवा करे।

इस प्रकार पच महाव्रत व षट आवश्यक नियमों का निरन्तर यत्न-पूर्वक पालन करता हुआ साधु अपने आदर्श की ओर अग्रसर होता है। पूर्व सचित कर्मबन्धन को धीरे-धीरे परन्तु दृढता व साहसपूर्वक काटता एव नवीन कर्मबन्धन से अपनी रक्षा करता हुआ साधु अपनी आत्मा को दिन प्रतिदिन अधिकाधिक निर्मल एव शुद्ध करता जाता है। अन्त मे एक ऐसा समय आता है, जब समस्त ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय मोहनीय एव अन्तराय घाति कर्मों को नष्ट करके, वह अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। उस जीवन्मुक्त (अर्हत्) परमात्मा का ज्ञानसूर्य—जो अबतक कर्म रूपी मेघों से आच्छादित व विकृत हो रहा था—पूर्ण ज्ञान प्रकाश से प्रज्वलित हो उठता है। उनके ज्ञान प्रकाश मे ससार के समस्त पदार्थ एवं उनके समस्त गुण व अवस्थाये झलकने लगती है। ज्ञानप्रकाश के साथ-साथ वह जीवन्मुक्त आत्मा दिव्य, अलौकिक, अनुपम आनन्द

में मग्न हो जाता है। इस अनुपम आनन्द अमृतरस का प्रतिक्षण पान करता हुआ, उसमे लीन रहता है। संसार के लाभार्थ, उस जीवन्मुक्त परमात्मा की दिव्यवाणी का सचार होता है, जिसके श्रवण से अनेक प्राणियों को ज्ञान प्राप्त होता है एव वे आत्मोन्नति की ओर अग्रसर होते है।

उपरोक्त जीवन्मुक्त अवस्था मे रहने एव ससार का कल्याण करने के कुछ समय पश्चात, उसके शरीर सम्बन्धी नाम, आयु, गोत्र व वेदनीय अघाति कर्मों का भी नाश हो जाता है। आयु कर्म क्षीण हो जाने पर, उसकी शुद्ध आत्मा, भौतिक शरीर को तज कर कर्मबन्धन से सर्वथा मुक्त होकर, लोक के शिखर पर विराजमान हो जाती है। जहा वह शुद्ध, सिद्ध परमात्मा सदा के लिये अनुपम दिव्य आनन्द मे मग्न रहता है एव उसकी दिव्य ज्ञान ज्योति मे ससार के समस्त पदार्थ, अपने अनन्त गुण व अवस्थाये सहित, आलोकित होते रहते है, कर्मबन्धन से सर्वथा मुक्त हो जाने पर, कोई शक्ति ऐसी शेष नही रहती, जो उस परमात्मा को फिर नवीन कर्म-बन्धन मे डाल सके, उसके शुद्ध चिदानन्द स्वरूप में विकार उत्पन्न कर सके या उसकी दिव्य आत्मिक शक्तियों को आच्छादित कर सके। इस-लिये वह परमात्मा अपने शुद्ध चिदानन्द स्वरूप मे शास्वत मग्न एव विराजमान रहता है।

तृतीय भाग

समन्वय या एकीकरण

समन्वय या एकीकरण

१—साधारण विवेचन

आत्मस्वरूप निर्णय कर लेने एवं उसकी प्राप्ति के उपाय जान लेने पर, यह प्रश्न स्वभावतः ही मन मे उठता है कि इस पृथ्वी पर अनेक महात्मा व विद्वान हो गये है, जिनके हृदय मे जीव के वास्तविक स्वरूप, सुख दुख, ससार भ्रमण, जन्म मरण एव जगत में होने वाली अनेक घटनाओं का रहस्य जानने की उत्कठा उत्पन्न हुई है। इन प्रश्नों का समाधान एवं निर्णय करने में, उन्होंने अपने जीवन व्यतीत किये हैं। अपने अनुभव, अन्वीक्षण एवं अनुसन्धान से जो सिद्धान्त स्थिर किये है, उनकी नीव पर अनेक मत व सम्प्रदाय मानव समाज मे प्रचलित हो गये है। इन सिद्धान्तों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि बहुत सी बाते इन धर्मो में एकसी हैं परन्तु कुछ प्रश्नों के सम्बन्ध मे इनका मत भिन्न-भिन्न है और कहीं-कही परस्पर विरोध भी है। इन सिद्धान्तो के पढ़ने से साधारण मनुष्य की तो बात ही क्या, विद्वान भी उलझन में पड जाते है और किसी एक निर्णय पर पहुंच नहीं पाते है। यह जानना आवश्यक प्रतीत होता है कि एक ही विषय के निश्चय करने मे, इतनी विभिन्नता एवं विरोध का कारण क्या है? यदि इस विभिन्नता एवं विरोध का कारण ज्ञात हो जावे, तो भिन्न-भिन्न दर्शन एवं शास्त्र के यथार्थ समझने की कुजी हाथ लग जावेगी।

इस विभिन्नता एव विरोध के निम्नलिखित दो ही कारण हो सकते हैं :—

(१) इन विद्वानो ने किसी विशेष उद्देश्य की सिद्धि के अर्थ, सोच समझ कर विरोधी सिद्धान्त स्थिर किये हैं। अथवा

(२) इन महापुरुषो को देश, समाज या समय की परिस्थिति, अपनी मनोवृत्ति या अन्य किसी कारण से इन सिद्धान्तों के स्थिर करने में भ्रम हुआ है, जिसके कारण इनमे इतनी विभिन्नता एव विरोध दृष्टि-गोचर होता है।

यह बात तो समझ मे नही आ सकती कि इन महापुरुषों ने किसी विशेष उद्देश्य की सिद्धि के अर्थ, असत्य सिद्धान्तो की रचना एवं उनका प्रचार किया है। क्योंकि इन महात्माओ का—जिन्होंने ससार से विरक्त होकर, गृहस्थ त्याग कर, अनेक कष्टो को सहन कर, मन वचन एवं शरीर को नियत्रण मे रख कर, आत्म स्वरूप आदि अनेक समस्याओं का समाधान किया है—मिथ्या सिद्धान्तो के स्थिर व प्रचार करने मे कोई उद्देश्य प्रतीत नही होता। इसके अतिरिक्त, प्राय· प्रत्येक मत व सम्प्रदाय मे योग्य विद्वान पाये जाते हैं। यदि उन मतो के सिद्धान्त बुद्धि विरुद्ध एव प्रकट रूप से मिथ्या होते, तो उन मतो के अनुयायी विद्वान—जिनका कोई विशेष उद्देश्य उन सिद्धान्तो मे विश्वास करने का नही है—क्यो उनको सत्य मान कर, उन पर श्रद्धा करते एव उनके अनुसार आचरण करते। जब कभी भिन्न-भिन्न दर्शन या भिन्न-भिन्न धर्मों के ग्रथो का अध्ययन एव उनकी युक्तियो पर विचार किया जाता है, तो ये युक्तिया बहुत कुछ सत्य प्रतीत होती है। परन्तु जब इनके आधार पर, भिन्न-भिन्न सिद्धान्त एव दर्शन स्थिर किये जाते है, तो इनमे बडी विभिन्नता एवं विरोध दृष्टिगोचर होता है, जिसको देख कर बुद्धि चक्कर मे पड जाती है। कोई सिद्धान्त—जो तर्क कसौटी पर खरा न उतरता हो—अधिक दिन तक टिक नही सकता। इसलिये यही मानना पडता है कि इन सिद्धान्तो के रचयिता महापुरुषो को किसी कारण से अवश्य भ्रम हुआ है, जिससे उन्होने विभिन्न एव विरोधी सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया है।

उदाहरण के लिये बौद्ध व वेदान्तदर्शनों को लीजिये। बौद्धदर्शन कहता है कि प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील है, किसी वस्तु की जो दशा आज

है, वह कल नहीं रहती; मनुष्य के शरीर में भी परिवर्तन होता रहता है, यहां तक कि कुछ काल[1] मे शरीर के समस्त अवयवों का प्रत्येक परमाणु बदल जाता है। प्रकृति में भी इसी प्रकार परिवर्तन होता रहता है, जैसा कि ऋतु परिवर्तन, दिन के छोटे बड़े आदि से स्पष्ट है। इस परिवर्तन को देख कर, बौद्धदर्शन ने प्रत्येक वस्तु को क्षणिक माना है। इसी क्षणिक-वाद के अनुसार, उसका कहना है कि मनुष्य के अन्तर्गत जो जीव है, वह भी स्थिर नही रहता है, उसमे भी परिवर्तन होता रहता है, जो जीव आज है, वह कल नहीं रहता, कल दूसरा जीव होगा। बौद्ध-दर्शन के इस क्षणिक वाद के बिल्कुल विपरीत, वेदान्त दर्शन का नित्य वाद है।

वेदान्त ब्रह्म को सदा व नित्य मानता है, मनुष्य की आत्मा भी ब्रह्म स्वरूप सत् व नित्य है। उसका नाश कभी नहीं होता, न उसमें कोई परिवर्तन होता है। जो परिवर्तन दिखलाई देते हैं, वे सब भ्रम हैं, उनका कोई अस्तित्व नही। स्वर्ण[2] की कुडल, हार, माला कंकण, मुद्रा आदि अनेक अवस्थाये होने पर भी, स्वर्ण के स्वरूप स्वर्णत्व[2] में न कोई ह्रास होता है और न वृद्धि। यह स्वर्णत्व स्वरूप सदा स्थिर रहता है। ये कुडल, हार आदि अवस्थाये, जो दृष्टिगोचर होती हैं, वे केवल भ्रम हैं, इनमे कोई सार नही। वेदान्त दर्शन कहता है कि स्वर्ण के स्वर्णत्व की भांति, मनुष्य की आत्मा शुद्ध चिदानन्द ब्रह्म स्वरूप है, उसमें कोई परिवर्तन नही होता, वह सदैव शुद्ध ब्रह्म स्वरूप में स्थिर रहता है। प्राणी में जो

---

[1] वैद्यक दृष्टि से शरीर का परिवर्तन सात वर्ष में पूर्ण हो जाता है। शरीर के पहिले समस्त परमाणु धीरे-धीरे निकल जाते हैं और उनका स्थान नवीन परमाणु धारण कर लेते हैं।

[2] दृष्टान्त के तौर पर स्वर्ण को मूलतत्व लिखा है, यद्यपि नये आविष्कारों से उसके मूलतत्व होने में सन्देह है।

काम, क्रोध आदि अनेक भावनाये, या प्राणी की मनुष्य, पशु आदि अनेक अवस्थायें जो दृष्टिगोचर होती है, **ये सब मिथ्या एवं माया है।** इस प्रकार वेदान्त दर्शन का नित्यवाद बौद्धदर्शन के क्षणिकवाद के **नितान्त विपरीत है।** जब दोनों दर्शनों की युक्तियो पर विचार किया जाता है, तो दोनों की युक्तिया सत्य प्रतीत होती है एव इन दोनो के परस्पर विरोधी, क्षणिक व नित्यवादी सिद्धान्त अपनी-अपनी युक्तियों के अनुसार ठीक-ठीक जचते है। ऐसी दशा में यह जानने की उत्कठा स्वमेव होती है कि इन सिद्धान्तो के परस्पर विरोधी होने मे क्या रहस्य है !

इन दर्शनो के नित्य व अनित्य (क्षणिक)वादो के दृष्टान्त एव युक्तियो की सूक्ष्म दृष्टि से परीक्षा करने पर ज्ञात होता है कि ये दर्शन एक ही वस्तु को भिन्न-भिन्न दृष्टि से देखते है। भिन्न-भिन्न दृष्टि से देखने के कारण ही, इनकी युक्तियो के परिणाम एव उनके आधार पर निश्चित किये गये सिद्धान्त भी भिन्न-भिन्न है। स्वर्ण एक सरल शुद्ध मूल तत्त्व है, जिसकी अवस्था मे सदैव परिवर्तन होता रहता है। कभी वह मल, **अन्य धातु या पदार्थ** से मिल कर एक मिश्रित (complex) या सयुक्त (Compound) **पदार्थ** बन जाता है। कभी हार, नेकलेस, ककण आदि सुन्दर आभूषण का रूप धारण कर लेता है। इन समस्त परिवर्तनों के होने पर भी, वह स्वर्ण **पदार्थ अपने वास्तविक** स्वरूप स्वर्णत्व को कभी नही छोडता। न कभी उस द्रव्य का कोई स्वर्ण परमाणु चादी, लोहा, आदि अन्य धातु या वस्तु के परमाणु मे परिणत होता है। जब कभी स्वर्ण पदार्थ को, उसके वास्तविक स्वरूप स्वर्णत्व की दृष्टि से, देखा जाता है, तो यही कहना पडता है कि स्वर्ण एक **नित्य पदार्थ** है, उसका नाश कभी नही होता है, न उसमे कोई परिवर्तन होता है। वह सदैव एकसा रहता है, जो परिवर्तन उसकी अवस्थाओं मे देखा जाता है, वह केवल **भ्रम** है, उसमे सार कुछ नही। यह वर्णन वेदान्तदर्शन के नित्यवाद के

सदृश एवं बौद्धदर्शन के क्षणिकवाद के विरुद्ध है। परन्तु जब कभी स्वर्ण के किसी पदार्थ को, उसकी बाह्य अवस्था की दृष्टि से, देखा जाता है, तो कहना पडता है कि स्वर्ण अनित्य है, उसमें सदैव परिवर्तन होता रहता है, कभी वह मुद्रा, हार, कंकण आदि आभूषण के रूप में दिखलाई देता है, कभी तेजाब (Acid) व अन्य पदार्थ से संयुक्त होकर विचित्र रसायनिक पदार्थ का रूप धारण कर लेता है। उसकी दशा कभी स्थिर नहीं रहती। यह कथन बौद्धदर्शन के क्षणिकवाद के अनुकूल एवं वेदान्तदर्शन के नित्यवाद के प्रतिकूल है।

इसी प्रकार जब मनुष्य को अन्तर्स्थित आत्मा को, उसके वास्तविक स्वरूप की दृष्टि से, देखा जाता है, तो कहना पडता है कि आत्मा नित्य, शुद्ध, ज्ञान एवं आनन्दमय है, क्योंकि अनेक योनियों के धारण करने, काम, क्रोध आदि अनेक भावना व प्रवृत्तियों के होने पर भी, आत्मा के वास्तविक स्वरूप का विनाश कभी नही होता। कर्मबन्धन के कारण उसके वास्तविक स्वरूप के आच्छादित एवं विकृत हो जाने पर भी, उसका वास्तविक ज्ञान आनन्द स्वरूप, शक्ति रूप से, उसी दशा में विद्यमान रहता है, उसके वास्तविक स्वरूप में कोई परिवर्तन नही होता। वास्तविक स्वरूप की दृष्टि से, आत्मा का उपरोक्त वर्णन वेदान्तदर्शन द्वारा प्रतिपादित आत्म स्वरूप के सदृश है।

परन्तु जब मनुष्य अन्तर्स्थित आत्मा का वर्णन, उसकी बाह्य अवस्था की दृष्टि से, किया जाता है, तो कहना पडता है कि आत्मा में सदैव परिवर्तन होता रहता है, वह कभी एकसा नही रहता, आत्मा अनित्य एवं क्षणिक है। यह देखा जाता है कि आत्मा की अवस्था में परिवर्तन सदैव होता रहता है, आत्मा एकसी अवस्था में कभी स्थिर नहीं रहता, उसकी रागद्वेष आदि भावनाओ में भी सदैव परिवर्तन होता रहता है, कभी वह सुखी होता है, कभी दुखी, कभी क्रोध से उसके अंग कांपने लगते है, कभी दया से द्रवित नेत्रों से अश्रुधारा बहने लगती है, इस भांति अनेक

प्रकार की भावनायें उसके हृदय में होती रहती हैं। भावना के सदृश मनुष्य की ज्ञानशक्ति में भी परिवर्तन होता रहता है, अनुकूल परिस्थिति में ज्ञान का विकास और प्रतिकूल परिस्थिति में ज्ञान का ह्रास होता है। उसके शरीर, रूप, रंग, सामर्थ्य, बनावट आदि में भी सदैव परिवर्तन होता रहता है। मनुष्य, बाल्य अवस्था से युवा, युवा से वृद्ध दशा को प्राप्त होता है। जीव कभी मनुष्य, कभी पशु, कभी किसी अन्य योनि में जन्म लेता है। इस प्रकार उसकी समस्त अवस्थाओं में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। बाह्य अवस्था की दृष्टि से, आत्मा बौद्धदर्शन द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त के अनुकूल अनित्य सिद्ध होता है।

इस विवेचन से, इस परिणाम पर पहुंचा जाता है कि भिन्न-भिन्न दार्शनिकों ने आत्मा एव अन्य पदार्थों का वर्णन भिन्न-भिन्न दृष्टियों से किया है। इन भिन्न-भिन्न, दृष्टिकोणो के कारण ही, उनका वर्णन भिन्न-भिन्न है। इन विभिन्न वर्णनों के आधार पर ही, उनके विभिन्न सिद्धान्तों की रचना हुई है। एक भूल साधारणतया लगभग सब ही दार्शनिकों मे पाई जाती है। किसी दार्शनिक ने आत्मा के किसी एक गुण या अवस्था का वर्णन किसी एक दृष्टि से किया है और उस (आत्मा) के अन्य समस्त गुण एवं अवस्थाओ की उपेक्षा की है, जिसका परिणाम यह हुआ है कि आत्मा के उस गुण व अवस्था के वर्णन मे भी कुछ अतिशयोक्ति हो गई है। दूसरे दार्शनिक ने उस आत्मा के किसी दूसरे ही गुण या अवस्था का वर्णन किसी एक दृष्टि से किया है और उसने अपने वर्णित गुण के अतिरिक्त अन्य गुण, अवस्था एवं दृष्टियों की उपेक्षा की है। इसका परिणाम यह हुआ है कि आत्मा एवं अन्य पदार्थ के सम्बन्ध मे, इन दार्शनिकों का वर्णन अधूरा व अपूर्ण है तथा आपस में भिन्न-भिन्न और कभी-कभी परस्पर विरोधी भी हैं। आत्मा या किसी पदार्थ का पूरा वर्णन तो उसी समय हो सकेगा, जब उसके समस्त गुण एवं अवस्थाओं का पूर्ण विवरण भिन्न-भिन्न दृष्टियों से किया जावे। इसके लिये आवश्यक है कि भिन्न-भिन्न

सिद्धान्तों के प्रतिपादन में दार्शनिकों के भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण को समझा जावे एवं उन समस्त सिद्धान्तों का समन्वय व एकीकरण करके वर्णन किया जावे। भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों के एकीकरण कर लेने पर ही, उस वस्तु का वर्णन पूर्ण हो सकेगा।

२—स्याद्वाद या अनेकान्तवाद

भारत के दार्शनिकों में से जैनदर्शन ने वस्तु, विशेष कर आत्मा, के भिन्न-भिन्न गुण एव अवस्था का भिन्न-भिन्न दृष्टि से वर्णन किये जाने एवं उनके समन्वय को बड़ा महत्व दिया है। इसलिए जैनदर्शन के उपरोक्त सिद्धान्त का संक्षिप्त विवेचन करना, यहा अनुचित न होगा।

जैनदर्शन कहता है कि प्रत्येक वस्तु अनेकान्तात्मक[1] है, अर्थात् प्रत्येक वस्तु मे अनेक गुण व अवस्थाये होती हैं। उस वस्तु का पूर्ण वर्णन तो उसी समय हो सकता है, जब उसके समस्त गुण व अवस्थाओ का भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से वर्णन किया जावे। यह असम्भव है कि मनुष्य किसी वस्तु के समस्त गुण एव अवस्थाओ का वर्णन एकदम, एक साथ कर सके। उसको विवश होकर, उस वस्तु के गुण एव अवस्थाओ का वर्णन क्रम से करना पडता है। जो वर्णन किसी वस्तु का किसी समय किया जाता है, वह वर्णन उस वस्तु के किसी गुण या पर्याय (अवस्था) का किसी एक दृष्टि से होता है। उस वस्तु के उसी गुण व पर्याय का, अन्य दृष्टि से या उस वस्तु के किसी अन्य गुण या पदार्थ का उसी दृष्टि से कथन बिल्कुल ही अन्य प्रकार का होता है। किसी वस्तु के वर्णन को उसका सम्पूर्ण वर्णन समझ लेना भूल है। वस्तु के किसी गुण या पर्याय का, किसी एक

---

[1] अनेकान्तात्मक=अनेक+अन्त+आत्मक। संस्कृत भाषा में 'अन्त' शब्द के कितने ही अर्थ होते हैं, यहां पर 'अन्त' शब्द से 'धर्म' अर्थ ग्रहण किया गया है। इसलिये उपरोक्त अनेकान्तात्मक शब्द का अर्थ 'अनेक धर्म वाला' अथवा अनेक गुण वाला होता है। इसका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक वस्तु में अनेक गुण होते हैं।

दृष्टि से, वर्णन किये जाने को जैनदर्शन स्याद्वाद[1] के नाम से बोधित करता है। जैनदर्शन ने इस स्याद्वाद अथवा अनेकान्तवाद को अत्यन्त ऊंचा पद दिया है, जैसा कि श्री अमृतचन्द्र आचार्य विरचित पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय, के निम्नलिखित श्लोक से ज्ञात होता है :—

परमागमस्य जीवं निषिद्धजात्यंधसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

अर्थात् (निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम्) जन्मान्ध पुरुषों के हस्ति सम्बन्धी भ्रम को दूर करने वाले, (सकलनयविलासितानां) पदार्थों के समस्त दृष्टिकोणो को प्रकाशित करने वाले (विरोधमथन) वस्तु वर्णन सम्बन्धी विरोधों को हटाने वाले, (परमागमस्य जीवं) यथार्थ सिद्धान्त के जीवन्भूत (अनेकान्तम्) अनेक धर्म व दृष्टिकोणों को कहने वाले स्याद्वाद को (नमामि) मै अमृतचन्द्र सूरि नमस्कार करता हू ।

इस श्लोक मे आचार्य महोदय ने जन्मान्ध पुरुषो के, हाथी नामक

---

[1] स्याद्वाद—स्याद् (कथंचित अर्थात् किसी एक दृष्टि से)+वाद (कथन)। इस स्याद्वाद शब्द के कथन से यह बोध होता है कि विवक्षित वस्तु का वर्णन, उसके किसी एक गुण का किसी एक दृष्टि से, है, उसका वर्णन, अन्य गुण या अन्य दृष्टि की अपेक्षा, अन्य प्रकार होता है। कुछ विद्वानों ने 'स्याद्' शब्द का अर्थ शायद समझा है, जिसके कारण उन्होंने स्याद्वाद का अर्थ यह लगाया है कि शायद ऐसा हो, शायद वैसा हो। उन्होंने इसको सन्देहात्मक दशा का बोधात्मक समझा है। परन्तु जैन विद्वान इसका अर्थ ऐसा नहीं लगाते है। वे तो स्याद् शब्द से कथंचित का अर्थ लेते है और स्याद्वाद शब्द से यह भाव लेते है कि विविक्षित वस्तु के किसी एक गुण का किसी एक दृष्टि से वर्णन है। उस गुण का उस दृष्टि से कथन बिल्कुल निश्चयात्मक है, उसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है।

आख्यायिका का उद्धरण देकर, अपना अनेकान्त सम्बन्धी सिद्धान्त पाठकों को अवगत कराया है। कथा इस प्रकार है :—

किसी ग्राम मे जन्म से अन्धे कितने ही मनुष्य रहते थे। उस ग्राम मे एक हाथी आया। हाथी को पहिचानने के लिये, ये नेत्रहीन मनुष्य उसके अंगो का स्पर्श करने लगे। किसी ने उस हाथी के पैर, किसी ने दात, किसी ने उसका धड़, किसी ने कर्ण, किसी ने सूड, किसी ने पूछ का स्पर्शन किया। उस हस्ति के चले जाने पर, ये जन्म से अन्धे मनुष्य अपने-अपने हस्ति सम्बन्धी अनुभव कहने लगे। वह मनुष्य—जिसने हस्ति के पाद का स्पर्शन किया था—कहने लगा कि हाथी स्तम्भ के सदृश होता है। कर्ण का स्पर्श करने वाला मनुष्य कहता था कि हस्ति सूप (पखे) के समान होता है। इसी प्रकार धड का स्पर्शन करने वाला मनुष्य, हाथी को मृत्तिका के स्कध (ढेर) सदृश, सूड का स्पर्शन करने वाला मनुष्य, हाथी को मूसल के तुल्य, पूछ का स्पर्शन करने वाला मनुष्य, हाथी को लाठी के समान, दात का स्पर्शन करने वाला मनुष्य, हाथी को डडे के सदृश कहता था। ये जन्मान्ध मनुष्य परस्पर वादविवाद एव झगड़ा करने लगे। प्रत्येक मनुष्य अपने कथन को सत्य तथा दूसरे मनुष्य के वर्णन को असत्य बतलाता था। कुछ देर तक वादविवाद होता रहा। वे किसी निर्णय पर न पहुच सके। उनके वादविवाद को सुनकर एक नेत्रवान पथिक—जिसने हाथी को सर्वांग देखा था—उनके पास आया और कहने लगा कि तुम सब मनुष्य व्यर्थ ही झगड़ा करते हो, तुम्हारा सब का कथन सत्य है, केवल एक ही भूल है। यह कहना कि हाथी स्तम्भ के ही सदृश होता है या हाथी सूप, स्कध, लाठी, मूसल या डंडे के ही तुल्य होता है मिथ्या व असत्य है। तुम सब अपने-अपने कथन को मिलाकर कहो। सबका मिला हुआ कथन हाथी का सत्य वर्णन होगा। हाथी स्तम्भ के सदृश भी होता है, सूप के समान भी और इसी प्रकार मूसल, लाठी, डंडा व स्कंध के समान भी होता है।

तुम सब ने हस्ति के भिन्न-भिन्न अंगों का स्पर्शन किया है, इसलिये तुम्हारे कथन में परस्पर विरोध है। सब अगों के कथन मिलाने से हस्ति का पूर्ण वर्णन हो सकेगा।

इस श्लोक का भावार्थ यह है कि जिस प्रकार नेत्रवान पथिक ने जन्म से अन्धे मनुष्यों के हस्ति सम्बन्धी विरोध को मिटा दिया था, इसी प्रकार यह स्याद्वाद (अनेकान्तवाद) मनुष्यों के पारस्परिक विरोध का दूर करने वाला है। वस्तु के समस्त गुण एवं अवस्थाओं को भिन्न-भिन्न दृष्टियो से दर्शाने वाला है, इसलिये यह स्याद्वाद यथार्थ ज्ञान का जीवन एव प्राण है। स्याद्वाद का महत्व एवं उसकी अत्यन्त आवश्यकता दिखलाने के लिये, उसको नमस्कार किया है।

इस आख्यायिका मे जो विरोध का कारण दर्शाया गया है, वही कारण भिन्न-भिन्न दर्शनो के परस्पर विरोध का है। प्रत्येक वस्तु अनेकान्तात्मक होती है, उसमे बहुत से गुण एवं अवस्थाये होती है और उनका वर्णन भी भिन्न-भिन्न पक्ष व दृष्टि से किया जाता है। कोई मनुष्य किसी वस्तु के किसी एक गुण का किसी एक दृष्टि से वर्णन करता है, दूसरा मनुष्य उसी वस्तु के उसी गुण का किसी दूसरी दृष्टि से, तीसरा मनुष्य उस वस्तु के उसी गुण का तीसरी दृष्टि से, तथा अन्य मनुष्य उसी वस्तु के उसी गुण का, अन्य दृष्टियों से वर्णन करते है अथवा एक मनुष्य किसी विवक्षित वस्तु के एक गुण का वर्णन करता है, दूसरा मनुष्य उसी वस्तु के किसी दूसरे गुण का, तीसरा मनुष्य उसके किसी तीसरे गुण का और अन्य मनुष्य उस वस्तु के अन्य गुणों का वर्णन करते हैं। इस प्रकार एक ही वस्तु के भिन्न-भिन्न गुणो का भिन्न-भिन्न दृष्टियो से वर्णन अनेक प्रकार होता है। यदि उनमें से कोई मनुष्य यह कहे कि जो मै कहता हू, वही सत्य है, वही उस वस्तु का रूप है, अन्य प्रकार नहीं हो सकता, दूसरे मनुष्यो का कथन मिथ्या है। उसके इस कथन मे उसकी भूल माननी होगी। उस वस्तु का यथार्थ वर्णन तो उस समय हो सकेगा कि जब उसके समस्त गुण व

अवस्थाओं के भिन्न-भिन्न दृष्टि से कथित वर्णन को एक साथ मिला लिया जावे।

उदाहरणार्थ किसी स्त्री का वर्णन करना है। एक मनुष्य उसकी सुन्दरता, रूप, लावण्य, शरीर की सुडौलता का वर्णन करता है, दूसरा मनुष्य उसकी धन सम्पत्ति, भूषण, आभूषण आदि ऐश्वर्य की सामग्रियों का, तीसरा व्यक्ति उसकी कुशाग्र एव व्यवसायिक बुद्धि का, चौथा व्यक्ति उसकी दानशीलता का, अन्य व्यक्ति उसके स्वभाव आदि अन्य गुणो का वर्णन करता है। इनमे से प्रत्येक व्यक्ति का कथन अपूर्ण एव अधूरा है। उस स्त्री का पूर्ण वर्णन तो उस समय हो सकेगा कि जब सब व्यक्तियो के भिन्न-भिन्न दृष्टियों से भिन्न-भिन्न गुणो की कथनावली को एकत्र करके कहा जावे। यदि कोई मनुष्य यह कहे कि उस स्त्री के सम्बन्ध मे, मैं जो कुछ कहता हू, वही उस स्त्री का यथार्थ वर्णन है, उस स्त्री का वर्णन अन्य प्रकार नही हो सकता, न उस स्त्री मे अन्य गुण है। इस कथन मे उस व्यक्ति की भूल माननी होगी। उस स्त्री या किसी वस्तु के यथार्थ वर्णन की दो ही रीति हो सकती है, या तो उसके समस्त गुण एव अवस्थाओ का वर्णन सर्व दृष्टियो से किया जावे या उसके कुछ विविक्षित गुणो का वर्णन कुछ दृष्टियो से करके यह कह दिया जावे कि इन दृष्टियों से वर्णित गुणों के अतिरिक्त उसमे अन्य गुण व अवस्थाये भी है, जिनका भिन्न भिन्न दृष्टियो की अपेक्षा अन्य प्रकार से कथन किया जा सकता है। इन दोनों रीतियों मे से किसी एक रीति के धारण करने पर ही, पाठक एव श्रोताओं को भ्रम नही होगा। अन्यथा वे उस वस्तु के कुछ गुणो का कुछ दृष्टियो की अपेक्षा कथन सुन लेने पर, यही धारणा बना लेगे कि उसमे केवल वर्णित ही गुण है, इनके अतिरिक्त उसमे न अन्य गुण है और न वर्णित गुणो का कथन अन्य दृष्टियो की अपेक्षा अन्य प्रकार हो ही सकता है।

प्रत्येक वस्तु साधारणतया अनेकान्तात्मक (अनेक गुण व अवस्था वाली) होती है। मनुष्य के लिये यह बडा कठिन है कि उस वस्तु के

समस्त गुण एवं अवस्थाओं का भिन्न-भिन्न दृष्टियों से वर्णन करे। इसके अतिरिक्त, केवल उसी गुण या अवस्था का वर्णन उस दृष्टि से किया जाता है, जिस दृष्टि से जिस गुण के कथन करने की आवश्यकता, उस समय की परिस्थिति के अनुसार, प्रतीत होती है। अन्य अनावश्यक दृष्टि से, उस गुण या अन्य अनावश्यक गुणो के वर्णन करने की उस समय उपेक्षा की जाती है। ऐसी दशा मे यह हृदय मे धारण कर लेना प्रत्येक व्यक्ति के लिये लाभदायक होगा कि प्रत्येक वस्तु अनेकान्तात्मक है और जो कथन किसी समय किया जाता है, वह स्याद्वाद रूप (किसी एक गुण का किसी एक दृष्टि) से वर्णन है।

जैनदर्शन ने कथनशैली को मुख्यतया दो भागो मे विभक्त किया है :—

(१) द्रव्यार्थिकनय—(द्रव्य+आर्थिक) पदार्थ के यथार्थ स्वरूप की (नय) दृष्टि से वर्णन करना। इस दृष्टि से प्रत्येक पदार्थ का वर्णन, उसके वास्तविक स्वरूप की अपेक्षा से, किया जाता है। इस नय से पदार्थ नित्य ठहरता है। इस दृष्टि से आत्मा नित्य, शुद्ध, निर्विकार, ज्ञान एवं आनन्दमय निश्चित होता है। यह वर्णन वेदान्तदर्शन द्वारा प्रतिपादित आत्म स्वरूप सदृश है। इस द्रव्यार्थिक नय को सत्यार्थ, भूतार्थ या निश्चय नय के नाम से भी बोधित किया है।

(२) पर्यायार्थिक नय—(पर्याय+आर्थिक) बाह्य अवस्था की (नय) दृष्टि से वस्तु का वर्णन करना। इस दृष्टि से प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील है। आत्मा भी अस्थिर, अनित्य एवं क्षणिक है क्योंकि उसकी बाह्य अवस्था मे सदैव परिवर्तन होता रहता है। यह कथन बौद्ध-दर्शन द्वारा प्रतिपादित क्षणिकवाद के तुल्य है। इस पर्यायार्थिक नय को जैन दर्शन ने असत्यार्थ, अभूतार्थ या व्यवहार नय के नाम से भी पुकारा है।

जैनदर्शन ने कथनशैली को और भी कई प्रकार से विभक्त किया है, जिनका वर्णन जैन ग्रंथों के अध्ययन द्वारा जाना जा सकता है। यहां पर उनका उद्धरण करना आवश्यक प्रतीत नहीं होता।

३—दर्शनों की विभिन्नता के कारण

अन्य वस्तुओं की भांति, आत्मा भी अनेकान्तात्मक है। उसमें ज्ञान आदि अनेक गुण व अवस्थायें हैं। किसी एक आचार्य ने उस आत्मा के किसी एक गुण या अवस्था का वर्णन किया है एवं अन्य गुण व अवस्थाओं की उपेक्षा की है। दूसरे आचार्य ने उसी आत्मा के किसी दूसरे ही गुण या अवस्था का कथन एव अन्य समस्त गुण व अवस्थाओं की उपेक्षा की है। किसी आचार्य ने आत्मा के किसी एक गुण का वर्णन, एक दृष्टि से, किया है, दूसरे आचार्य ने आत्मा के उसी गुण का वर्णन, किसी दूसरी ही दृष्टि से, किया है। भिन्न-भिन्न गुण एवं अवस्था के भिन्न-भिन्न दृष्टियों से वर्णन तथा अन्य गुण व अवस्था, एव अन्य दृष्टियों की उपेक्षा करने के कारण ही, भिन्न-भिन्न दर्शनों मे इतना अधिक अन्तर हो गया है। आत्मा की उपमा उस उपवन से दी जा सकती है, जो नाना भाति के सुन्दर, सुगंधित, चित्ताकर्षक पुष्प, लता, पौधे एव अनेक प्रकार के मधुर, स्वादिष्ट फलो के वृक्षो से भरपूर है, जिनके कारण उस उपवन की शोभा अतुलनीय है। यदि उस उपवन का माली एक ही प्रकार के पौधे का सिंचन, नलाई व देखभाल करे और अन्य प्रकार के समस्त वृक्ष, पुष्प, लता आदि की देखभाल पर ध्यान न दे, न उनकी रक्षा करे, तो परिणाम यह होगा कि उस उपवन की समस्त शोभा, मधुरता, सुगधता एवं सुन्दरता ही नष्ट हो जावेगी। एक उन्नत आत्मा अनेक प्रकार की शक्ति, विशेषता, गुण एव भावना से युक्त, इतना ही सुन्दर व चित्ताकर्षक है, जितना कि सुन्दर पुष्प, फल आदि से युक्त मनोहर उपवन। यदि आत्मा के केवल एक ही गुण, विशेषता या शक्ति पर ध्यान दिया जाय अथवा वर्णन किया जाय एव अन्य समस्त गुण, शक्ति व विशेषताओ की उपेक्षा की जाय, तो

इसका एक परिणाम यह होगा कि उस अनन्त शक्ति एवं गुण युक्त आत्मा की सम्पूर्ण सुन्दरता, मधुरता एवं विशेषता ही नष्ट हो जावेगी।

भिन्न-भिन्न आचार्यों ने भिन्न-भिन्न गुणों का वर्णन एवं अन्य गुणों की उपेक्षा क्यों की ? इसके उत्तर केवल दो ही हो सकते हैं :—

(१) साधारण व्यक्ति के सदृश, आचार्यों की भी रुचि भिन्न-भिन्न होती है। अपनी रुचि के अनुसार, किसी आचार्य का ध्यान आत्मा के एक गुण की ओर जाता है और दूसरे आचार्य का किसी दूसरे ही गुण की ओर। एक आचार्य, अपनी रुचि के अनुसार, एक गुण को किसी एक दृष्टि से देखता है, दूसरा आचार्य उसी गुण को बिल्कुल दूसरी ही दृष्टि से अवलोकन करता है। जैसे वेदान्तदर्शन के रचयिता आचार्य का ध्यान आत्मा की स्थायी शुद्ध चिदानन्द अवस्था की ओर गया है। अन्य गुणों की उपेक्षा करके, वे इस शुद्ध, शास्वत, चिदानन्द अवस्था का उत्तम वर्णन करते हैं, यहां तक कि उनका कथन अतिशयोक्ति तक पहुंच जाता है। फलतः मनुष्य की परिवर्तनशील अनेक अवस्थायें, उनको माया व भ्रमपूर्ण दिखलाई देती है। उनको प्रतीत होता है कि इन अवस्थाओं का किसी प्रकार का भी प्रभाव आत्मा की शुद्ध चिदानन्द अवस्था पर नही पड़ता है। इसी प्रकार अन्य आचार्यों का ध्यान आत्मा के अन्य गुण एवं अवस्थाओं की ओर आकर्षित होता है और वे केवल उनका ही वर्णन करते है।

(२) महान पुरुषों पर, जिस देश, समाज, समय या परिस्थिति में उत्पन्न होते या कार्य करते हैं, उस देश, समाज व समय की नैतिक, आध्यात्मिक, मानसिक, सामाजिक, आर्थिक एवं राष्ट्रीय स्थिति का प्रभाव पड़ता है। उनका ध्यान उस समय की आवश्यकताओं की ओर आकर्षित होता है। उस समय की अव्यवस्था एव त्रुटियों को दूर करने के लिये वे कटिबद्ध होते है। समाज को तात्कालिक दोषों से विमुक्त करने के हेतु, वे नवीन सिद्धान्तों का निर्माण करते तथा उपदेश देते है। उदाहरण के तौर पर, एक पराधीन देश को लीजिये, जो अन्य देश द्वारा पद-

दलित किया गया है। पराधीन होने के कारण, उस देश की दशा अव्यवस्थित, समाज कुरीति एवं अन्य दोषों से ग्रसित, जनता निर्धन, दुर्बल, साहस एवं उद्यमहीन, नैतिक व शारीरिक बल मे क्षीण हो जाती है। उस देश के महान पुरुष, उस देश की आवश्यकताओं को देखकर, ऐसे सिद्धान्तो की रचना एव प्रचार करेंगे कि जिससे देश मे जागृति उत्पन्न हो, नवयुवक देश के उत्थान कार्य में लगे एवं स्वदेश को परतंत्रता के चंगुल से छुड़ा कर स्वतन्त्र करें।

यदि किसी देश के निवासियों में मद्यपान, व्यभिचार एवं विलास प्रियता की प्रवृत्ति बढ़ गई है और इस प्रवृत्ति के कारण, अन्य दोष भी उत्पन्न हो गये हैं, उस देश के महान पुरुषों का ध्यान स्वमेव ही समाज की शोचनीय दुर्व्यवस्था की ओर आकर्षित होगा। वे ऐसे सिद्धान्तों की रचना एव प्रचार करेंगे, जिनसे मद्यपान, व्यभिचार, विलास-प्रियता आदि दोष दूर हो जावें। वे व्यभिचार, मद्यपान आदि प्रचलित दोषों का घोर प्रतिवाद करेंगे एव उन दोषो का समूलोन्मूलन करने का प्रबल प्रयास करेंगे।

समाज की परिस्थिति एवं उसकी तात्कालिक आवश्यकताओं का प्रभाव उस समय के महान पुरुषों पर पड़ता है। उन आवश्यकताओं की पूर्त्ति की भावना से प्रेरित होकर, देश व समाज के हित के लिये, ये महान पुरुष समयोपयोगी सिद्धान्तो का निर्माण करते हैं। उनका ध्यान आत्मा के अनेक गुणों मे से उस गुण एव उस दृष्टि की ओर आकर्षित होता है, जिसकी अधिकता की आवश्यकता उस समय होती है। वे महान पुरुष तात्कालिक आवश्यकताओ की पूर्त्ति करने वाली दृष्टि एव गुण का विशेष प्रतिपादन करते है तथा अन्य दृष्टि व अन्य गुणो का—अनावश्यक समझे जाने या उस ओर ध्यान के आकर्षित न होने से—वर्णन छूट जाता है।

इस प्रकार भिन्न-भन्न आचार्यों ने, स्वरुचि अनुसार अथवा तात्कालिक समाज की परिस्थिति के कारण, आत्मा के भिन्न-भिन्न गुण व अव-

स्थाओ का भिन्न-भिन्न दृष्टि से वर्णन किया है। इन आचार्य या इनके शिष्यों द्वारा, कुछ गुणों का मात्रा से अधिक वर्णन होने एवं अन्य गुणों की उपेक्षा किये जाने के कारण ही, भिन्न-भिन्न दर्शन एवं सिद्धान्तों का जन्म हुआ है।

यहां पर यह जान लेना उचित ही जान पड़ता है कि प्रचलित मुख्य दर्शन एव धर्मों ने, आत्मा के किस-किस गुण को, किस-किस दृष्टि से देखा है एवं अन्य गुण व अन्य दृष्टियों की उपेक्षा की है तथा उन धर्मों पर, उनकी उत्पत्ति के समय विद्यमान परिस्थिति का, कहा तक प्रभाव पड़ा है। यह जान लेने से, इन दर्शनों की विभिन्नता व विरोध के कारण और भी अधिक स्पष्ट दिखलाई देने लगेगे एवं इन दर्शन व धर्मों के यथार्थ समझने मे अधिक सहायता मिलेगी।

४—दर्शनों का समन्वय

(१-२) साख्य व योगदर्शन

इन दोनों दर्शनो ने अनन्त आत्माये इस जगत मे मानी है। ये आत्मायें अनादि काल से है और अनन्त काल तक रहती है। अपने पूर्व कर्म सस्कारों के कारण, ये आत्मायें जगत की भिन्न-भिन्न योनियो मे जन्म धारण करती हुई भ्रमण करती रहती है। कर्मों का फल जीवो को स्वय मिलता है। कोई अन्य चेतन शक्ति या ईश्वर प्राणियो को उनके कर्मों का फल नही देता है। साख्यदर्शन ने पुरुष (आत्मा) व प्रकृति केवल दो ही पदार्थ माने है। जब प्रकृति व्यक्त दशा मे होती है, उसके २३ भेद हो जाते है। पुरुष, प्रकृति और इस प्रकृति के २३ भेदों को मिलाकर २५ तत्व कहे है।

योगदर्शन ने उपरोक्त दो पदार्थों के अतिरिक्त, एक ईश्वर को भी माना है। परन्तु यह ईश्वर मनुष्य के किसी कार्य में हस्तक्षेप नहीं करता, न मनुष्य को ही उसके पूर्व कृत कर्मों का फल देता है। उस ईश्वर को केवल ज्ञान देने वाला गुरु माना है। इन दोनो दर्शनो के अनुसार, जीव अज्ञानी होने के कारण, ससार मे भ्रमण कर रहा है। ज्ञान हो जाने पर आत्मा कर्मबन्धन से छूट जाता है। कर्मबन्धन से छूटने के लिये, मनुष्य को इन्द्रिय सयम, विषय-वासना-त्याग, ससार से वैराग्य, अहिसा आदि पंच व्रत (नियम) पालन करने एव समाधि लगानी होती है। कर्म-बन्धन से मुक्त हो जाने पर, आत्मा को केवल ज्ञान (सर्वज्ञता) प्राप्त हो जाता है। कुछ समय तक मनुष्य शरीर मे जीवन्मुक्त (अर्हत्) अवस्था मे रहकर, फिर मोक्ष को प्राप्त हो जाता है, जहा वह अनन्त काल तक अपनी

दिव्य ज्ञान ज्योति से, संसार के समस्त पदार्थों को उनकी समस्त भूत, भविष्यत एवं वर्तमान अवस्था सहित, अवलोकन करता रहता है।

इन दोनों दर्शनो ने आत्मा के केवल ज्ञान स्वरूप का ही वर्णन किया है। आत्मा के शान्त आनन्द स्वरूप एवं अन्य गुणों का कथन नहीं किया है। इन दर्शनों ने आत्मा के आनन्द आदि अन्य गुणो की उपेक्षा की है। इन दर्शनों ने आत्मा को सदैव शुद्ध, निर्विकार, निरंजन, सर्वज्ञ, अकर्त्ता व भोक्ता माना है। इनके अनुसार आत्मा सदैव शुद्ध, निर्विकार रहता है, उसमे कोई परिवर्तन नही होता। आत्मा कोई कार्य नही करता है। वह केवल दृष्टा एवं ज्ञाता है। ससार के प्राणियों मे काम, क्रोध आदि अनेक प्रकार की जो भावनाये पाई जाती है, अनेक प्रकार की चेष्टाये व सकल्प विकल्प जो उनमे दृष्टिगोचर होते है, इन सब को प्रकृति का ही विकार माना है। इन दर्शनो के अनुकूल प्रकृति मे ही अनेक प्रकार के परिवर्तन हो रहे है। आत्मा सदैव दृष्टा व ज्ञाता रहता है। इस वर्णन से स्पष्ट है कि इन दार्शनिको ने आत्मा को, केवल वास्तविक, शुद्ध चेतन स्वरूप की ही दृष्टि से, देखा है, कर्मों के आवरण के कारण आत्मा की विद्यमान परिवर्तनशील बाह्य अवस्था की, सर्वथा उपेक्षा की है।

सांख्यदर्शन ने इस दृश्यमयी जगत की उत्पत्ति एव प्रलय की विशेष व्याख्या की है। इस दर्शन के अनुसार, इस सृष्टि का कर्त्ता एव सहारक कोई विशेष चेतन शक्ति अथवा ईश्वर नही है और न आत्मा (पुरुष) ही कर्त्ता है। इसलिये इस जगत की उत्पत्ति एव प्रलय का कारण, प्रकृति का परिवर्तन ही है।[1]

---

[1] सांख्यदर्शन में इसका विस्तारपूर्वक वर्णन दिया हुआ है। सत्व, रज व तम गुण के सम भाव हो जाने पर, प्रकृति अव्यक्त दशा में पहुंच जाती है, उस समय यह दृश्यमय जगत लय हो जाता है। इस दशा को प्रलय कहा जाता है। कुछ समय के पश्चात्, प्रकृति अव्यक्त दशा से व्यक्त

योगदर्शन का मुख्य विषय योगाभ्यास का प्रतिपादन करना है, जिसके द्वारा, मुमुक्षु जीव चित्त की वृत्तियो का निरोध करके एवं आत्म स्वरूप में समाधि लगाकर, शुद्ध आत्मज्ञान स्वरूप की प्राप्ति कर सकता है। यह वर्णन बडा ही सुन्दर एवं अत्यन्त उपयोगी है। सांख्य व योगदर्शन ने अन्य विषयों का प्रतिपादन नही किया है, उनको उपेक्षा की दृष्टि से देखा है।

दशा की ओर झुकती है। सत्व, रज व तम गुणों में विषमता उत्पन्न हो जाती है। सबसे प्रथम प्रकृति में महत् भाव (बुद्धि) उत्पन्न होता है, फिर अहंकार का जन्म होता है। उसके पश्चात् मन, पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां, पंच तन्मात्रायें व स्थूल पंचभूत उत्पन्न होते हैं, जिनके उत्पन्न होने पर सृष्टि की उत्पत्ति होती है।

(३, ४) न्याय व वैशेषिक दर्शन

न्यायदर्शन का मुख्य विषय युक्तिवाद का प्रतिपादन करना है। युक्तिवाद को ही दृष्टि में रखकर उसने १६ तत्व माने हैं। अन्य समस्त विषयों को उसने, गौण दृष्टि से, देखा है। अन्य विषयों का प्रतिपादन उस दर्शन में बहुत कम किया गया है। जिन अन्य विषयों का प्रतिपादन किया गया है, वह अधूरा है। युक्तिवाद का वर्णन बडा ही विशद एवं स्पष्ट रीति से किया गया है। इस युक्तिवाद से, वस्तु के यथार्थ समझने में बडी सहायता मिलती है।

वैशेषिकदर्शन में परमाणुओं का वर्णन बडी ही सुन्दरता के साथ किया गया है। परमाणुवाद ही इस दर्शन का मुख्य विषय है, अन्य विषयों का वर्णन गौण एवं अपूर्ण है।

इन दर्शनों ने आत्मा आदि ९ द्रव्य और गुण आदि ७ पदार्थ माने हैं। इन दोनों दर्शनों के अनुसार आत्मायें अनन्त हैं, अनादि काल से हैं और अनन्त काल तक रहती है। ये आत्मायें पूर्व कर्म संस्कारों के कारण, अनेक योनियों में जन्म लेती हुई, संसार में भ्रमण करती रहती हैं। न्याय-दर्शन ने आत्मा के निम्नलिखित ६ लिंग माने हैं :—राग, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुख व ज्ञान। वैशेषिक दर्शन ने आत्मा के उपरोक्त ६ गुणों (लिंगों) के अतिरिक्त अन्य ८ गुण और भी माने हैं। इन गुणों के वर्णन से स्पष्ट है कि इन दर्शनों ने आत्मा को, उसकी विद्यमान दशा (पर्यायार्थिकनय) की दृष्टि से ही, देखा है। प्रत्येक संसारी आत्मा में राग, द्वेष, सुख, दुख आदि भावनायें पाई जाती हैं। प्रत्येक आत्मा कुछ न कुछ प्रयत्न करता दिखलाई देता है। प्रत्येक आत्मा में न्यूनाधिक ज्ञान होता है। आत्मा का विचार, उसके वास्तविक स्वरूप ज्ञान, आनन्द आदि की दृष्टि से, नहीं

किया है। शरीर, इन्द्रिय तथा इन्द्रिय के विषय, इन्द्रिय द्वारा ज्ञान, बुद्धि, मन, दोष जन्य प्रवृत्ति, सुख व दुख से मुक्त होना ही मोक्ष की प्राप्ति करना है। इन दर्शनों मे यह स्पष्ट रूप से वर्णन नही किया गया है कि मुक्त होने पर आत्मा की क्या अवस्था होती है।

न्यायदर्शन के प्रमेय सम्बन्धित सूत्र में किसी ईश्वर का वर्णन नही है। केवल टीकाकारों ने प्रमेय तत्व मे कथित आत्मा के दो भेद किये है :—सासारिक आत्मा व परमात्मा। नैयायिकों के सदृश ही, वैशेषिको ने भी ईश्वर विषय का विशेष प्रतिपादन नही किया है। आत्मद्रव्य के ही संसारी आत्मा व परमात्मा दो भेद किये है। परमात्मा को आत्मा का कर्मफलदाता भी कहा है।

इन दोनो दर्शनो मे आत्म स्वरूप का प्रतिपादन, उसकी विद्यमान सासारिक दृष्टि (पर्यायार्थिक नय) से, किया है जब कि पूर्व कथित सांख्य व योगदर्शनों मे आत्मा के ज्ञान स्वरूप का वर्णन, उसके वास्तविक स्वरूप की दृष्टि (द्रव्यार्थिक नय) से, किया गया है। भिन्न-भिन्न दृष्टियों से प्रतिपादन किये जाने के कारण ही, इन दर्शनो के द्वारा प्रतिपादित आत्म स्वरूप के वर्णन मे विभिन्नता एव अन्तर दिखलाई पड़ता है।

(५) वेदान्त या उत्तर मीमांसा

भारत की शिक्षित हिन्दु जनता में, वेदान्तदर्शन की मान्यता सबसे अधिक है। इस दर्शन ने केवल एक तत्व 'ब्रह्म' ही माना है, जो सच्चिदानन्द, सर्वव्यापी है। ससार मे जो अनन्त आत्माये दृष्टिगोचर होती है, वे सब ब्रह्म के ही अश या प्रतिबिम्ब है। इस वेदान्तदर्शन के अन्तर्गत कई वाद प्रचलित है (जिनका वर्णन आगे किया जावेगा)। ये आत्माये, पूर्व कर्म सस्कारो के कारण, संसार की अनेक योनियों मे जन्म धारण करती हुई भ्रमण करती रहती है। ब्रह्म का अश होने के कारण प्रत्येक आत्मा सच्चिदानन्द है। आत्मा सदैव शुद्ध, निरंजन, ज्ञान व आनन्दमयी है। मनुष्य अपनी अज्ञानता एव भ्रम के कारण अपने को सुखी, दुखी, रोगी, निरोगी, ज्ञानी, अज्ञानी आदि मानता है। जब तक वह अज्ञान मे फसा रहता है, तब तक उस को ससार मे भ्रमण करना पड़ता है। आत्मा के सच्चिदानन्द स्वरूप का ज्ञान हो जाने पर, वह आत्मा संसार भ्रमण से मुक्त हो जाता है एव सच्चिदानन्द ब्रह्म स्वरूप को प्राप्त हो जाता है।

मनुष्य की बाह्य अवस्था मे, जो निरन्तर परिवर्तन होता रहता है, जिसके कारण मनुष्य मे काम, क्रोध आदि अनेक प्रकार की भावनायें, ज्ञान आदि मे न्यूनता, अधिकता एवं अनेक प्रकार के रूप रंग आदि दिखलाई देते है, इनको **'माया'** के शब्द से बोधित किया है। बाह्य जगत को भी माया बतलाया है। इस वर्णन से स्पष्ट है कि वेदान्तदर्शन ने आत्मा के ज्ञान एवं आनन्द गुण पर, केवल आत्मा के वास्तविक स्वरूप की दृष्टि (द्रव्यार्थिक नय) से, विचार किया है। बाह्य अवस्था की दृष्टि (पर्यायार्थिक नय) से, बिल्कुल विचार नही किया है। बाह्य अवस्था को उपेक्षा की दृष्टि से देखा है।

आत्मा की सत्ता के सम्बन्ध में, कितने ही विभिन्नवाद वेदान्तवाद में गर्भित हैं। श्री शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित **'अद्वैतवाद'** में ब्रह्म और जीव एक ही हैं, दृश्यमय जगत माया है। मनुष्य मे परस्पर विभिन्नता, रागद्वेषादि भावनायें पाई जाती हैं; यह सब माया है। माया का स्वरूप अनिर्वचनीय बतलाया है। दूसरा वाद श्री रामानुजाचार्य प्रतिपादित **विशिष्टाद्वैत** है। इस वाद के अनुकूल यद्यपि ईश्वर, जीव व जगत तीनों ही भिन्न-भिन्न हैं, तथापि जीव (चित्) और जगत (अचित्) ये दोनों ही एक ईश्वर के शरीर हैं, इसलिये चिदचिद्विशिष्ट ईश्वर एक ही है। इस ईश्वर शरीर के सूक्ष्म चित् अचित् से ही स्थूल चित् और स्थूल अचित् अर्थात् अनन्त जीव और जगत की उत्पत्ति हुई है। तीसरे वाद के प्रवर्तक श्री माध्वाचार्य जी हैं, जिसे **द्वैतवाद** कहते हैं। इसके अनुकूल ईश्वर व जीव सर्वथा भिन्न ही है। चतुर्थवाद 'शुद्धाद्वैत' श्री वल्लभाचार्य द्वारा प्रतिपादित किया गया है। इसके अनुसार माया रहित शुद्ध जीव और ईश्वर एक ही हैं। मायात्मक जगत मिथ्या नही है। माया परमेश्वर की इच्छा से ही विभक्त हुई है, माया एक शक्ति है। इनके अतिरिक्त कितने ही भिन्न-भिन्न भाव वेदान्तदर्शन में गर्भित हैं।

पदार्थों के सम्बन्ध मे विचारने से ज्ञात होता है कि भिन्न-भिन्न दार्शनिकों ने ससार के समस्त चेतन व अचेतन पदर्थों को कुछ मूलतत्वों में विभक्त किया है। वैशेषिकदर्शन ने समस्त पदार्थों को ९ द्रव्यों में विभाजित किया है। योगदर्शन ने तीन द्रव्यों में और सांख्यदर्शन ने पुरुष व प्रकृति दो ही मूलतत्वों मे ससार के समस्त चेतन व अचेतन पदार्थों को विभक्त किया है। इसी प्रकार वेदान्तदर्शन ने समस्त चेतन व अचेतन पदार्थों को एक ही मूलतत्व में समावेश करने का प्रयत्न किया है। एक ही मूलतत्व में सीमित करने के कारण, कितने ही वाद उत्पन्न हो गये हैं। एक ही मूलतत्व **'ब्रह्म'** वेदान्तदर्शन ने स्वीकार किया है। सत्तागुण (Existence) ससार के समस्त चेतन अथवा अचेतन पदार्थों में सामान्य

रूप से पाया जाता है। यदि संसार के पदार्थों पर, केवल सत्ता गुण की ही दृष्टि से, विचार किया जावे, तो कहना पड़ेगा कि संसार के समस्त पदार्थों का आधार सत्तात्मक पदार्थ है। वेदान्तदर्शन ने संसार के पदार्थों का, केवल सत्ता की दृष्टि से, विचार किया है। इसलिये उसने केवल एक सत्तात्मक पदार्थ ब्रह्म माना है। इस ब्रह्म सत्तात्मक पदार्थ में चेतन व अचेतन कई पदार्थ सम्मिलित हैं। इसी कारण ब्रह्म को निर्गुण कहा है और उसकी व्याख्या 'नेति नेति' करके निषेधात्मक रूप में करनी पड़ी है एवं उसका स्वरूप, अनिर्वचनीय बतलाना पड़ा है।

(६) पूर्व मीमांसा

पूर्व मीमांसा के प्रणेता श्री जैमिनि आचार्य है। इन्होने वेद विहित कर्मकाड का प्रतिपादन किया है। इसके अनुसार मनुष्य को वेद विहित देवी देवताओं की पूजा, यज्ञ एव बलि देनी चाहिये। इन कर्मों से उसको स्वर्ग एव अन्य प्रकार के सुख व सम्पत्ति प्राप्त होती है। मनुष्य को अपने कर्मों का फल स्वय मिलता रहता है। कर्मों का फल देने वाला कोई ईश्वर नही है, न ससार का कोई व्यवस्थापक परमात्मा है। वैदिक धर्म मे अनेक देवता माने गये है, उनमे मुख्य तीन है:—सूर्य, इन्द्र और अग्नि।

सूर्य आकाश का राजा और सरदार है। शेष देवता उसको पथ-प्रदर्शक मानते है और वह उनको अमर जीवनदान देता है। इन्द्र वज्र का अधिष्ठाता है एव देवताओं की सेना का सेनापति है। उसका शत्रु असुरो का स्वामी विरित्र है, जिसके साथ उसका सग्राम होता रहता है, जिसको इन्द्र ने अगणित बार परास्त व महार किया है परन्तु वह विरित्र बार-बार उत्पन्न होकर, सग्राम करता है। वैदिक देवताओ मे तीसरा बडा देवता अग्नि देवताओ का पुरोहित है, जिसके निमत्रण पर, अन्य देवगण आते है। यह देवताओं का मुख भी है, जो भोजन या बलिदान अग्नि को भेट किया जाता है, वह अन्य देवताओ को पहुच जाता है। ये देवता बराबर है, इनमे से किसी देवता की शक्ति दूसरे से सीमित नही है।

उपरोक्त तीन देवता व अन्य देवगण का जो वृत्तान्त दिया हुआ है, यदि उनका शाब्दिक अर्थ लिया जाता है, तो वे कल्पित कथा एवं कहानिया प्रतीत होती है और उनके पढने से, वेदो की महत्ता में वृद्धि नही होती, वरन् श्रद्धा मे कमी आ जाती है। यदि वेदों की भाषा को अलंकारिक माना जावे और देवी देवताओ के वर्णन को आत्मा के गुणों का, कथानक

के रूप में, वर्णन समझा जावे, तो यह उलझन मिट जाती है और ये देवी देवता एवं कथायें आत्म स्वरूप के सुन्दर विवेचन में परिणत हो जाती हैं।

उपरोक्त देवताओं का वर्णन, अलंकारिक भाषा में समझ कर, निम्न प्रकार किया जा सकता है[1]:—

(१) सूर्य सर्वज्ञता का बोधक है। ज्ञान का दृष्टान्त सदैव सूर्य के साथ दिया जाता है। जिस प्रकार सूर्य के आकाश में प्रदीप्त होने से, समस्त पदार्थ दिखलाई देने लगते हैं, उसी प्रकार आत्मा मे सर्वज्ञता के विकसित हो जाने पर, समस्त पदार्थ उसमे आलोकित होने लगते हैं।

(२) इन्द्र से तात्पर्य सासारिक आत्मा से है, जो सांसारिक इन्द्रिय भोगों में मस्त रहता है। इन्द्र के सम्बन्ध में निम्न प्रकार कथा है :—

(क) इन्द्र ने, अपने गुरु बृहस्पति की पत्नी के साथ, व्यभिचार कर्म किया।

(ख) जिसके कारण, उसके शरीर में फोडे फुन्सी फूट निकले।

(ग) ये फोडे फुन्सी, ब्रह्मा जी की कृपा से, चक्षु बन गये।

इनके अतिरिक्त इन्द्र के सम्बन्ध में यह भी कहा है :—

(घ) इन्द्र अपने पिता का भी पिता है।

(च) इन्द्र का युद्ध सदैव असुरो के स्वामी विरित्र के साथ होता रहता है, जिसको इन्द्र ने अगणित बार परास्त एवं संहार किया है, परन्तु वह विरित्र बार-बार जीवित होकर युद्ध करता रहता है।

इनकी व्याख्या निम्न प्रकार की जा सकती है :—

(क) सासारिक आत्मा, बुद्धि द्वारा, ज्ञान प्राप्त करता है। शिष्य भी गुरु द्वारा ज्ञान की प्राप्ति करता है, अतएव बुद्धि ही मनुष्य (सांसारिक आत्मा) की गुरु हुई। बुद्धि साधारणतया विषयवासना की—जिसकी

---

[1] यह वर्णन श्री सी० आर० जैन रचित 'असहमत संगम' (Confluence of opposites) नामक पुस्तक से लिया है।

तृप्ति बाह्य पदार्थों के भोगने से होती है—और आकर्षित होती है, आत्मा की ओर बहुत कम जाती है, जैसा कि प्रायः संसार में देखा जाता है। इस प्रकार बुद्धि का साधारणतया सम्बन्ध बाह्य पदार्थ अर्थात् प्रकृति से है। इसलिये प्रकृति को बुद्धि की पत्नी कहा जा सकता है। जीव व प्रकृति के समागम को, अलंकारिक भाषा में, यह कह सकते हैं कि इन्द्र (सांसारिक आत्मा) ने अपने गुरु (बुद्धि) की पत्नी (प्रकृति) से सम्भोग किया।

(ख) मनुष्य ने बाह्य पदार्थों (प्रकृति) में मस्त रहने के कारण पाप कर्मों का बन्धन किया, जिससे सूक्ष्म पुद्गल परमाणु, कर्म रूप में परिवर्तित होकर, उसकी आत्मा के साथ सम्बन्धित हो गये। इन कर्म परमाणुओ का आत्मा के ऊपर आरोपित होना ही, फोड़े फुन्सी का निकलना है।

(ग) मनुष्य को जब ब्रह्मज्ञान हो गया जब वह समझ गया कि उसकी आत्मा ही ब्रह्म है, तो उसकी आत्मा ज्ञान से प्रकाशित हो गई। ज्ञान से प्रकाशित होना ही, नेत्रो का खुल जाना है। ज्ञान सम्पूर्ण आत्मा मे व्याप्त है और आत्मा सम्पूर्ण शरीर मे व्याप्त है, इसलिये सम्पूर्ण शरीर मे आखो का होना बतलाया है।

(घ) चिदानन्द स्वरूप परमात्म अवस्था ही आत्मा की सर्वोत्तम अवस्था है, इसलिये उसको (चिदानन्द परमात्म अवस्था को) ससारी आत्मा का पिता कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त, चिदानन्द परमात्म अवस्था ससारी, अपवित्र आत्म अवस्था से प्राप्त होती है अर्थात् चिदानन्द परमात्मा का उपादान कारण ससारी आत्मा है, इसलिये ससारी आत्मा को चिदानन्द परमात्मा का पिता कहा जा सकता है। इसको अलकारिक भाषा मे निम्न प्रकार कह सकते है:—इन्द्र (ससारी आत्मा) अपने पिता (चिदानन्द स्वरूप परमात्मा) का भी पिता (उपादान कारण) है।

(च) काम, क्रोध आदि क्षुद्र वृत्तियां ही असुरों की सेना है। इन क्षुद्र वृत्तियों का सरदार मोह राजा (ममताभाव) ही असुरों का स्वामी

विरित्र है, जिसके साथ इन्द्र (आत्मा) का सदा युद्ध होता रहता है। संसारी आत्मा, जब आत्म ज्ञान से युक्त होकर, शुद्ध होने का प्रयत्न करता हुआ परमात्म अवस्था को प्राप्त होता है, उस समय उसको अपनी क्षुद्र वृत्तियों से घोर सग्राम करके, उन्हें परास्त एवं मोह ममता भाव को नाश करना होता है, इसी को, अलकारिक भाषा में, इन्द्र का असुरों के स्वामी विरित्र के साथ सग्राम करना एवं विरित्र का परास्त व सहार करना कहा जा सकता है।

(३) अग्नि तीसरा देवता है। तपस्या की उपमा प्राय: अग्नि से ही दी जाया करती है। यह साधारणतया कहा जाता है कि तपस्या द्वारा आत्मा इस प्रकार शुद्ध हो जाता है, जैसे अग्नि में तपाने से स्वर्ण शुद्ध हो जाता है। अत: अग्निदेव से तात्पर्य तपस्या से है। अग्नि देवता के सम्बन्ध मे निम्न प्रकार कहा गया है :—

(क) उसके तीन पैर हैं।

(ख) उसके सात हाथ है।

(ग) उसके सात जिह्वाये है।

(घ) वह देवताओं का पुरोहित है, जो उसके बुलाने से आते है।

(च) वह भक्ष्य और अभक्ष्य दोनों प्रकार के पदार्थों का भक्षण कर जाता है।

(छ) वह देवताओं को बल देता है अर्थात् जितना अधिक बलिदान अग्नि पर चढ़ाया जाता है, उतनी ही अधिक पुष्टि देवताओं की होती है।

इनकी व्याख्या निम्न प्रकार की जा सकती है :—

(क) तप तीन प्रकार से होता है अर्थात् मन, वचन एवं शरीर वश मे करने से। यदि मन, वचन व शरीर, इन तीनों में से किसी दो पर नियत्रण किया जावे और तीसरे को अनियंत्रित छोड दिया जावे, तो तपस्या अधूरी रहती है। मन, वचन एवं शरीर, इन तीनों का नियंत्रण ही तपस्या का आधार है, इसलिये तपस्या के तीन पग कहे हैं।

(ख) सात हाथो से तात्पर्य ७ ऋद्धियों से है, जो तपस्वियों को प्राप्त हो जाया करती है। मनुष्य शरीर के मेरु दंड में योग के चक्र हैं, जिनमें ऋद्धिया (शक्तियां) गुप्त रीति से सुषुप्त मानी गई हैं। तपस्या से, ये ऋद्धिया जागृत हो जाती है। शक्ति (ऋद्धि) का प्रयोग हस्त द्वारा होता है, इसलिये इन ७ शक्तियो को अग्नि के ७ हस्त कहे हैं।

(ग) अग्नि की सात जिह्वाओं से तात्पर्य, पांच इन्द्रियां, मन एव बुद्धि से है, जिनको तपस्या की अग्नि मे भस्म किया जाता है।

(घ) तपस्या करने से आत्मा में अनेक ईश्वरीय गुण प्रगट हो जाते है। इसलिये इन ईश्वरीय गुणो को देवगण और तपस्या को प्रधान होने के कारण अन्य गुणों (देवगण) का पुरोहित कहा है। ये अन्य गुण तपस्या करने पर ही प्रगट होते है, इसलिये इन गुणो के प्रगट होने (देवताओ के आने) को तपस्या (अग्निदेव) द्वारा आह्वानन करना बतलाया है।

(च) पुण्य और पाप दोनो बन्धन है। दोनो ही आवागमन के कारण हैं। पुण्य से हृदयग्राही और पाप से अरुचिकर योनिया एवं सुख, दुख की सामग्रियां प्राप्त होती हैं। मुमुक्षु जीव को, आत्म शुद्धि के लिये, पुण्य एव पाप दोना ही छोड़ने पडते है, इसलिये अग्नि (तपस्या) को भक्ष्य (पुण्य) और अभक्ष्य (पाप) दोनो को ही भक्षण करना होता है।

(छ) तपस्या का भोजन वासना व इच्छायें है। तपस्या का प्रयोजन वासना का नष्ट करना है। जितनी-जितनी वासना एव इच्छाये नष्ट होती जावेगी, उतने ही अधिक ईश्वरीय गुण प्रगट तथा उनकी पुष्टि आत्मा मे होती जावेगी। अलकारिक भाषा मे, ईश्वरीय गुणो को देवगण कहते है, अत अग्नि पर वासना एव इच्छाओ के बलिदान करने से देवताओ (अन्य ईश्वरीय गुणो) की पुष्टि होती है।

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि यदि वेद विहित देवी देवता एवं तत्सम्बन्धी कथानक को आत्मिक गुणों का, अलंकारिक भाषा में, वर्णन मान लिया जावे, तो यह कथन बड़ा मनोहर, हृदयग्राह्य एवं शिक्षाप्रद बन जाता है और सब प्रकार का विरोध मिट जाता है। उपरोक्त तीन देवता के समान, अन्य देवगण भी आत्मा के अन्य गुणों के बोधक हैं और उनकी व्याख्या भी, उपरोक्त प्रकार से, भलीभांति की जा सकती है।

(७) बौद्ध दर्शन

ढाई सो वर्ष पूर्व महात्मा गौतमबुद्ध ने भारतवर्ष में जन्म लिया था। उनका हृदय, ससार में विद्यमान दुख एवं धर्म के नाम पर किये जाने वाले पशुवध से द्रवित हो गया था। उन्होने कितने ही वर्ष वन में रहकर अनेक प्रकार की तपस्या आदि करके दुख की समस्या का समाधान ढूंढ़ निकाला। उन्होने मुख्य चार सिद्धान्त निर्धारित किये थे, जिनको बौद्ध धर्म का स्तम्भ कहा जाता है।

(१) **दुख का अस्तित्व**—ससार मे चारो ओर दुख का साम्राज्य स्थापित है। प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी प्रकार के दुख से पीडित है, जिससे मुक्त होने के लिये, वह सदैव उत्सुक रहता है।

(२) **दुख का कारण**—दुख का कारण यह है कि मनुष्य विषय-वासना की तृप्ति मे लगा हुआ है एव उसको अपने शरीर आदि से बडा मोह व ममता है।

(३) **दुख का दूर करना**—यह दुख उस समय नष्ट हो सकेगा, जब मनुष्य विषयवासना व इच्छा पर नियत्रण प्राप्त कर ले और उसके हृदय मे वासना व इच्छा उत्पन्न न हो।

(४) **दुख दूर करने के उपाय**—विषयवासना नष्ट करना ही ध्येय है, इसके लिये उन्होने आठ अग वाले मार्ग का उपदेश दिया है, जो निम्न प्रकार है :—

(१) सत्य श्रद्धान, (२) सत्य विचार, (३) सत्य वाणी, (४) सत्य चारित्र, (५) जीवन निर्वाह के लिये सत्य आजीविका, (६) सत्य कार्य का प्रयत्न, (७) सत्य (शुद्ध) बातो की स्मृति, (८) सत्य समाधि।

महात्मा बुद्ध ने जीव के आवागमन एवं भिन्न-भिन्न योनियों मे जन्म

धारण करने का वर्णन किया है और उपदेश दिया है कि ससार की प्रत्येक वस्तु मे परिवर्तन होता रहता है, कोई भी वस्तु एकसी दशा या अवस्था में कभी स्थिर नही रहती। परिवर्तन वस्तु का स्वरूप बतलाया है। उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि महात्मा बुद्ध ने आत्मा का कथन, उसकी विद्यमान बाह्य अवस्था की दृष्टि (पर्यायार्थिक नय) से, किया है। तथा विद्यमान दुखों से छूटने के लिये उचित मध्यम मार्ग[1] का उपदेश दिया है। आत्मा के स्वरूप पर उसके वास्तविक स्वभाव की दृष्टि (द्रव्यार्थिक नय) से विवेचन नही किया है। यही कारण अन्य दर्शनों से विरोध का है।

महात्मा बुद्ध की मृत्यु के पश्चात्, उनके अनुयायियो ने इस सिद्धान्त—ससार की प्रत्येक वस्तु मे परिवर्तन होता रहता है—को अतिशयोक्ति तक पहुचा दिया है। उनके अनुकूल जीव मे भी परिवर्तन होता रहता है। एक योनि मे स्थित शरीर मे एक आत्मा लगातार नही रहता है वरन् उसमे परिवर्तन होता रहता है। एक शरीर मे जो आत्मा इस समय स्थित है, दूसरे समय दूसरा ही आत्मा आ जाता है, पहिला आत्मा उस शरीर मे से निकल जाता है। एक योनि से दूसरी योनि तक पहिले आत्मा का अस्तित्व, वास्तव मे, नही रहता है। ऐसी दशा मे आवागमन के सम्बन्ध मे बौद्ध आचार्यों ने एक अद्भुत ही सिद्धान्त स्थिर किया है कि मनुष्य की मृत्यु के पश्चात्, उसके चरित्र सम्बन्धी सस्कारो का समूह उससे पृथक हो जाता है और नवीन योनि मे पहुच कर, पुद्गल के नये स्कंधों के साथ मिलकर, नवीन शरीर धारण कर लेता है। पिछले बौद्ध

---

[1] मध्यम मार्ग से उस भिक्षुक मार्ग का तात्पर्य है, जिसमें न तो शारीरिक कष्टों का अधिक सहन एवं दुर्द्धर तप करके शरीर को कृष किया जावे और न जिसमें गृहस्थ की भांति इन्द्रिय विषय आदि भोग विलासों में ही लगा जावे।

आचार्यों के अनुसार, जीव पुद्गल स्कधो का एक पुज है, जो अपने पूर्व चरित्र सम्बन्धी सस्कारो से सयुक्त रहता है। इस चरित्र सम्बन्धी संस्कार से मुक्त होना ही, बौद्ध धर्म का निर्वाण है। बौद्धदर्शन इस जगत को अनादि मानता है, इसका रचयिता या सस्थापक किसी ईश्वर या चेतन व्यक्ति को स्वीकार नही करता है।

(८) जैन दर्शन

जैनधर्म, इस युग व क्षेत्र में, भगवान ऋषभदेव को अपने धर्म का प्रवर्तक मानता है, जिनका समय भूतकाल के अन्धकार में विलुप्त है। इस धर्म के अन्तिम उद्धारकर्त्ता भगवान महावीर थे, जो भगवान बुद्धदेव के समकालीन थे। जैनधर्म ने छ स्वतत्र पदार्थों को माना है, जो अनादि काल से है और अनन्त काल तक रहेगे। इसके अनुसार जगत भी अनादि काल से है और अनन्त काल तक रहेगा। यह दर्शन किसी ईश्वर या परमात्मा को इस जगत का न संस्थापक, न कर्मफलदाता मानता है।

इस दर्शन के ६ मूलतत्वों में से दो मूलतत्व जीव (आत्मा) व पुद्गल (भौतिक पदार्थ) मुख्य हैं। जीव अनन्तान्त हैं, जो अनादि काल से पूर्व कर्मसस्कार के कारण, इस ससार की भिन्न-भिन्न योनियों मे, शरीर धारण करते हुए भ्रमण एवं अनेक प्रकार के कष्ट भोग रहे है। जीव व पुद्गल दोनो पदार्थों की पास्परिक क्रिया व प्रतिक्रिया से, कर्म संस्कार उत्पन्न होते हैं। कर्म सिद्धान्त का इस दर्शन ने बड़ा विशद वर्णन, वैज्ञानिक ढग से, किया है, जो पठन एव मनन करने योग्य है। इस सिद्धान्त का विस्तार पूर्वक वर्णन पहिले 'कर्म सिद्धान्त' शीर्षक अध्याय व उसके फुट नोट में किया जा चुका है।

जैन दर्शन के अनुसार, आत्मा अनेक गुण व पर्याययुक्त पदार्थ है। दर्शन, ज्ञान, आनन्द व वीर्य इस आत्मा के मुख्य गुण हैं। स्वभाव की अपेक्षा, आत्मा में समस्त पदार्थों के देखने व जानने की शक्ति (सर्वज्ञता), आनन्द एवं अनन्त सामर्थ्य है। ये गुण आत्मा मे सदैव विद्यमान रहते हैं, इनका नाश कभी नही होता। आत्मा का यह ज्ञान आनन्द वीर्य स्वरूप, कर्मों के कारण, आच्छादित एवं विकृत हो रहा है। कर्मों के आवरण के

कारण ही, मनुष्य के ज्ञान मे न्यूनता या अधिकता देखी जाती है, आत्मा के शान्त आनन्द स्वरूप के विकृत होने से, काम, क्रोध आदि अनेक प्रकार की भावनाये ससारी आत्मा मे पाई जाती है एवं आत्मा की अनन्त शक्ति, कर्मों से आवृत होने के कारण, साहस, संकल्प शक्ति आदि के रूप में प्रदर्शित होती है। यह दर्शन आत्मा की अवस्था को परिवर्तन-शील मानता है। इसके अनुसार मानसिक चेष्टा, शरीर आदि की स्थिति सदैव बदलती रहती है।

मनुष्य जब अपने शुद्धज्ञानानन्द स्वरूप को भलीभांति जानकर एवं निश्चित करके कि उसकी वर्तमान अशुद्ध, मलिन दशा एवं दुखपूर्ण स्थिति, पूर्व कर्मों के कारण, हो रही है, अपने आत्मस्वरूप मे दृढ श्रद्धान[1] एवं उसके प्राप्त करने का पूर्ण प्रयत्न करता है; मन को विषय वासना से हटाकर, संयम व तप द्वारा इन्द्रियो को नियन्त्रित तथा कर्मबन्धन को नष्ट करता है, उस समय उसकी आत्मा शुद्ध होकर परमात्म अवस्था को प्राप्त हो जाती है। अर्हत् अवस्था को प्राप्त करके, अपनी दिव्य ज्ञान ज्योति मे संसार के समस्त पदार्थों को अवलोकन करता है एव दिव्य, अलौकिक आनन्द में मग्न होकर, अनुपम सुख का आस्वादन करता है। इस अर्हत् (जीवन्मुक्त) अवस्था में, कुछ काल तक रहकर एवं ससार के प्राणियों

---

[1] जैनधर्म ने सम्यक्दर्शन [आत्म स्वरूप अथवा जीव १, अजीव २, कर्मों के आस्रव ३, बन्ध ४, संवर ५ (कर्म का रोकना), निर्जरा ६ (कर्म का फल देने एवं शक्तिविहीन होने के पश्चात् आत्मा के सम्बन्ध से पृथक होना) एवं मोक्ष ७ (कर्मों से बिल्कुल मुक्ति) सप्त तत्वों का दृढ़ श्रद्धान], सम्यक्ज्ञान (आत्म-स्वरूप अथवा उपरोक्त सप्त तत्वों का यथार्थ ज्ञान), व सम्यक् चारित्र (आत्म-स्वरूप में लीन होना अथवा चारित्र का भली-भांति पालन करना) को मोक्ष का मार्ग बतलाया है, इन तीनों के धारण करने का विशेष उपदेश दिया है।

को अपनी दिव्य वाणी द्वारा ज्ञानामृत पान कराकर, मोक्ष को पधार जाता है, जहां अनन्त काल तक दिव्य आनन्द में मग्न रहता है और जहां उसके दिव्य ज्ञान मे संसार के समस्त त्रिलोकवर्त्ती पदार्थ आलोकित होते रहते हैं।

उपरोक्त कथन से स्पष्ट है कि जैनदर्शन ने आत्मा के ज्ञान, आनन्द शक्ति आदि गुणो को, उसके वास्तविक स्वरूप की दृष्टि (द्रव्यार्थिक नय) से एवं वर्तमान मलिन ससारी दशा को, बाह्य अवस्था की दृष्टि (पर्यायार्थिक नय) से, यानी दोनों दृष्टियो से, विचार किया है। पूर्व में लिखा जा चुका है कि इस दर्शन ने प्रत्येक पदार्थ को अनेकान्तात्मक अर्थात् अनेक गुण वाला माना है और इसके कथन का ढग स्याद्वाद[1] रूप है। जैनदर्शन ने इस स्याद्वाद अथवा अनेकान्तवाद पर बहुत ही अधिक जोर दया है। इस दर्शन की धारणा है कि स्याद्वाद का यथार्थ ज्ञाता भिन्न-भिन्न दर्शनो के विभिन्न एवं विरोधी सिद्धान्तों को भलीभाति समझ सकता है, विवाद ग्रस्त विषय के भिन्न-भिन्न गुण एवं अवस्थाओं का, भिन्न-भिन्न दृष्टि से विवेचन करके, उनके विरोध को मिटा सकता है। विरोध को हटाकर जो सिद्धान्त निर्धारित होगा, वही सत्य एवं यथार्थ होगा।

---

[1] स्याद्वाद का शाब्दिक अर्थ है कि (स्याद्+वाद) किसी वस्तु का, किसी एक दृष्टि से, वर्णन करना। स्याद्वाद कथन से तात्पर्य है कि किसी वस्तु के सम्बन्ध में जो कोई वर्णन किसी समय किया जाता है, उसके सम्बन्ध में यह समझ लिया जावे कि यह कथन उस वस्तु के समस्त गुण व अवस्थाओं का नहीं है वरन् यह वर्णन उस वस्तु के किसी एक विवक्षित गुण या अवस्था का किसी एक दृष्टि से किया गया है। उस वस्तु के अन्य गुण व अवस्थाओं का एवं उस विवक्षित गुण का अन्य दृष्टि से वर्णन, अन्य प्रकार भी होता है। ऐसा समझ लेने से किसी मनुष्य को उस वस्तु के सम्बन्ध में भ्रम नहीं होगा। इस सिद्धान्त का वर्णन पहिले भी हो चुका है देखो पृष्ठ २०९ ?

जैनधर्म प्रतिपादित चारित्र का प्रासाद अहिंसा सिद्धान्त की नीव पर खड़ा है। उच्च अर्थ मे, हिंसा शब्द से तात्पर्य काम, क्रोध आदि उन समस्त भावना एव प्रवृत्तियो से है, जिनके होने से आत्मा की शान्त वीतराग अवस्था विकृत एव नष्ट होती है। इस उच्च अर्थ में, अहिंसा शब्द से तात्पर्य आत्मा की शान्त वीतराग अवस्था से है। शिष्य एवं जनता के समझाने के हेतु, हिंसा की भावना को हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्म एवं परिग्रह (सासारिक पदार्थों मे ममता एव उनके ग्रहण करने की लालसा) पंच भावनाओ मे विभक्त किया है, जिनको पांच पापों के नाम से पुकारा है। इन पच पापों के त्याग को अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह (परिग्रह त्याग) पच व्रत कहा है। ये ही पच व्रत जैनधर्म सम्बन्धी सम्पूर्ण चारित्र के आधार है। इनकी ही सहायता के लिये, अन्य व्रत, यम व नियम बतलाये है। गृहस्थ व साधु अवस्था की परिस्थिति अनुसार, इन व्रतो के विवेचन मे अन्तर कर दिया गया है।

अहिंसा आदि पंच व्रतों का वर्णन चारित्र के निषेधात्मक पक्ष की दृष्टि मे रखकर किया गया है। जब चारित्र के विधेयात्मक पक्ष का वर्णन किया जाता है, तो शुद्ध परमात्मा अर्हत् के गुणों का स्तवन, परमात्म अवस्था का ध्यान, स्वकृत कार्यों की दैनिक आलोचना, स्वाध्याय, तप, परोपकार आदि नियम व कार्य—जिनके करने से आत्मा को शान्त वीतराग अवस्था प्राप्त करने में सहायता मिलती है—मुमुक्षु जीव के लिये बतलाये है। वे नियम वास्तव मे अहिंसा धर्म का विधेयात्मक पक्ष है। अन्वीक्षण एव अनुसन्धान द्वारा निर्धारित उपरोक्त आत्म स्वरूप एव चारित्र के कथन से जैनधर्म कथित आत्म स्वरूप व चारित्र का वर्णन बहुत कुछ मिलता जुलता है।

(९) ईसाई धर्म

ईसाई धर्म के प्रवर्त्तक महात्मा ईसा हैं। २००० वर्ष पूर्व एशिया के पश्चिम भाग मे जरूसलम नगर के समीप, महात्मा ईसा ने जन्म लिया था। वह प्रदेश उस समय रोमन साम्राज्य के अन्तर्गत था। वहां की जनता अज्ञानता एवं रूढ़ियों की जंजीर में फसी थी। प्रचलित धर्म, रीति रिवाज एवं साम्राज्य के विरुद्ध कहना भी पाप समझा जाता था। प्रतिकूल विचारो के सुनने की क्षमता जनता में न थी, असहिष्णुता की मात्रा अधिक बढी हुई थी। ऐसी परिस्थिति मे, महात्मा ईसा ने इस पृथ्वी पर जन्म धारण किया था। यह बिल्कुल स्वाभाविक ही था कि इस परिस्थिति का प्रभाव उनके उपदेश एवं कार्यप्रणाली पर पडता। उन्होंने अपना उपदेश, कहानी (Parables) एवं अलकारिक भाषा (allegories) के रूप मे, देना प्रारम्भ किया।[१] उनको यह

---

[१] "Give not that which is holy unto the dogs, neither cast ye your pearls before Swine, lest they trample them under their feet and turn again and rend you." Bible *Mathew Chap.* 7, 6.

ईसाइयों की पवित्र पुस्तक बाइबिल (मेथ्यू अध्याय ७-६) में कहा है कि "पवित्र वस्तु को कुत्ते को मत दो, न अपने मोती सुअर के सामने डालो, नहीं तो वे उनको अपने पैरों के नीचे कुचल डालेंगे और तुम पर टूट पड़ेंगे तथा तुमको फाड़ डालेंगे" जिसका भावार्थ निम्न प्रकार है:— "तुम अपना उपदेश कुपात्र को मत दो, वह तुमसे उल्टा अप्रसन्न हो कर, तुम्हारा अनिष्ट करने के लिये, उतारू हो जावेगा।

भय था कि यदि उन्होंने प्रचलित धर्म एवं रीति रिवाज के विरुद्ध खुल्लमखुल्ला आन्दोलन किया, तो वे स्वयं एवं उनके अनुयायी विपत्ति में पड़ जावेंगे और वे अपनी शुभ भावना को, कार्यरूप में परिणत न कर सकेंगे[1]।

ईसाई धर्मावलम्बी प्राचीन समय के आचार्य यह भलीभांति जानते थे, कि महात्मा ईसा का सदुपदेश कहानी की अलंकारिक भाषा के पर्दे मे छिपा हुआ है और उसका वास्तविक अर्थ शाब्दिक अर्थ से कही भिन्न है।[2] वे सत्य को पहचानते थे। अर्वाचीन समय के आचार्य बाइबिल

"It is not meet to take the children's bread and to cast it unto the dogs." Bible *Mark VII*, 27.

बाइबिल में (मार्क-अध्याय ७-२७) कहा है "यह उचित नहीं है कि बच्चों की रोटी ले ली जावें और उन्हें कुत्तों के सामने डाल दी जावें" जिसका भावार्थ यह है कि यह उचित नहीं है कि जो उपदेश सुपात्रों के योग्य है, वह कुपात्रों को दिया जावे।

'But without a parable spake he not unto them.' Bible *Mark IV*, 34.

बाइबिल में (मार्क अध्याय ४-३४) में कहा है कि बिना कहानी के, वे उनसे (जनता से) नहीं कहते थे।

[1] ईसामसीह का भय घटना के रूप में सत्य निकला। महात्मा ईसा की मृत्यु उपरोक्त उपदेश के कारण, शूली पर चढ़ा कर की गई थी।

[2] "And he said 'Unto you it is given to know the mysteries of the Kingdom of God, but to others in parables, that seeing, they might not see and hearing, they might not understand."

Bible *Luke VIII*, 10

तथा अन्य पुस्तकों का शाब्दिक अर्थ लेते है, जिसका परिणाम यह हुआ कि ईसाई मत का प्रभाव पाश्चात्य स्त्री पुरुषों के हृदय से उठ रहा है।

महात्मा ईसा ने मानव जीवन को उच्च, शुद्ध एवं शान्तमय बनाने के लिये, बहुत ही उत्तम एव उच्च उपदेश दिया है, जिसके अनुसार चलने से, मनुष्य की आत्मा शुद्ध, शान्त, आनन्द रूप अवस्था का अनुभव करने लगती है। महात्मा ईसा के विख्यात 'पर्वत पर के व्याख्यान' (Sermon on the mount) के कुछ अश उद्धृत किये जाते हैं।

उन मनुष्यों को—जो नम्र हैं—धन्य है क्योकि उनका स्थान स्वर्ग मे निश्चित है। मैथ्यू (अध्याय, ५-३)

वे मनुष्य—जिनका हृदय शुद्ध है—धन्य है क्योकि वे परमेश्वर से मिल सकेगे। मैथ्यू (अ० ५-८)

उन मनुष्यों को—जिन पर सत्यता के कारण अत्याचार किया जाता है—धन्य है क्योकि उनके लिये स्वर्ग में स्थान सुरक्षित है। (मैथ्यू अ० ५-१०)

बाइबिल (लूक अध्याय ८-१०) में लिखा है कि उन्होंने (महात्मा ईसा ने) कहा "तुम ईश्वरीय साम्राज्य के रहस्य को समझ सकोगे, परन्तु अन्य मनुष्यों के लिये कहानी में कहा गया है क्योंकि वे देखते हुए भी न देख सकेंगे और सुनते हुए भी न समझ सकेंगे"

'Very many events are figuratively predicted by means of enigmas and allegories and parables and they must be understood in a sense different from the literal description' (Tertullian). Ante Nicene Christian Library Vol. VII, P. 176.

"Truth lies hidden veiled in obscurity" (Lactantius) A. N. C. L. Vol. XXI, p. 2.

प्राचीन समय से कहते आते हैं कि तू किसी को मत मार, क्योंकि न्याय के दिन हिंसक मनुष्य विपत्ति मे पड जावेगा परन्तु मैं तुमसे कहता हू कि जो मनुष्य अपने किसी भाई से, बिना विशेष कारण के, अप्रसन्न होगा वह भी न्याय के दिन आपत्ति मे पडगा। जो मनुष्य अपने भाई से अपशब्द कहेगा उसके साथ भी पचायत कठोरता का बर्ताव करेगी। जो दूसरे मनुष्य को मूख कहेगा उसको नरक यातनाये सहनी होगी। (मैथ्यू अ० ५—२१, २२)

प्राचीन समय से कहते आये है कि तू व्यभिचार मत कर, परन्तु मैं तुमसे कहता हू कि जो पुरुष किसी स्त्री को काम दृष्टि से देखता है, वह व्यभिचार का दोषी होता है, क्योकि उसन अपने हृदय मे उस स्त्री से काम सेवन कर लिया। (मैथ्यू अ० ५—२८, २९)

"And with us, indeed, who have had handed down from our forefathers, the mvstery of the books which are able to decieve Clementine Homilies A N C L Vol XVII, p 58

जिनके भावार्थ निम्न प्रकार हैं :

बहुत सी घटनायें, अलकारिक भाषा में पहेली, दृष्टान्त एव कहानी के रूप में, कही गई है, उनका वास्तविक अर्थ शाब्दिक अर्थ से भिन्न है।

टरटूलियन एन्टी निसन क्रिश्चियन पुस्तकालय पुस्तक ७, पृ० १७६

सत्य अन्धकार में छिपा हुआ है। (लेक्टेन्शियस)

उक्त पुस्तकालय की पुस्तक २१, पृ० २

हमको अपने पूर्वजो से उन पुस्तकों का रहस्य —जिनसे साधारण जनता को भ्रम होता है—परम्परा से ज्ञात होता रहा है। (क्लेमिन्टाइन होमीलीज)

उक्त पुस्तकालय की पुस्तक १७, पृ० ५८

यह कहा जाता है कि 'आंख के बदले आंख, पैर के बदले पैर (अर्थात् जैसे को तैसा), परन्तु मैं तुमसे कहता हूं कि बुराई के बदले बुराई मत कर। यदि कोई मनुष्य तुम्हारे दाहिने गाल पर थप्पड़ मारे, तो तुम उसकी ओर बाया गाल भी कर दो। (मैथ्यू अ० ५—३८-३९)

यह कहा जाता है कि तुम अपने पडौसी से प्रेम एवं अपने शत्रु से द्वेष करो, परन्तु मै तुमसे कहता हूं कि तुम अपने शत्रुओं से प्रेम करो, जो तुमको अपशब्द कहे, उन्हे आशीर्वाद दो, जो तुमसे घृणा करते हों, उनके साथ भलाई करो, जिसका बर्ताव तुम्हारे साथ बुरा हो और जो तुम पर अत्याचार करते हों, उनके आत्म कल्याण के लिये प्रार्थना करो। (मैथ्यू अ० ५—४४, ४५)

तुम जो दान दो, उसकी सूचना बाये हाथ को भी न होने दो। तुम्हारा दान गुप्त होना चाहिये। ईश्वर गुप्त बातो को देखता है, वह तुमको गुप्त दान का पुरस्कार देगा। (मैथ्यू अ० ६—३, ४)

महात्मा ईसा ने, उपरोक्त प्रकार का उच्च उपदेश अपने अनुयायियों को देकर, इस पृथ्वी को स्वर्ग में परिणत करने का प्रयास किया था।

आत्मा व परमात्मा का वास्तविक स्वरूप एवं उनका पारस्परिक सम्बन्ध, स्पष्ट रूप से, ईसाई धर्म में नही दिखलाया गया। महात्मा ईसा एवं ईसाई धर्म के पूर्व आचार्यों का कथन, अलंकारिक भाषा के पर्दे में, छिपा हुआ है। उनके कथन को ध्यानपूर्वक पढ़ने एवं समझने से प्रतीत होता है कि आत्मा व परमात्मा का स्वरूप इस पुस्तक द्वारा निर्धारित आत्मा व परमात्मा के स्वरूप से मिलता जुलता है, जैसा कि निम्नलिखित उद्धरणों से प्रगट होता है :—

तुम भी इतनी ही शुद्धता एवं पूर्णता को प्राप्त करो, जितनी शुद्धता एव पूर्णता तुम्हारे पिता ईश्वर में है, जो स्वर्ग मे विराजमान है। (मैथ्यू अ० ५-४८)

मैंने कहा है कि तुम स्वयं ईश्वर हो। (जान अ० १०-३४)

देखो ईश्वर का साम्राज्य तुम्हारे अन्दर है। (लूक अ० १७-२१)

तुम भी वे ही विचार हृदय मे धारण करो, जैसे कि ईसा मसीह मे थे। ईश्वर का अवतार होते हुए भी, उसने ईश्वर सदृश होने के प्रयास म अपराध नही समझा। फिलीपियन (अ० २—५, ६)

सबसे अधिक जानने योग्य यह है कि तू अपने आपको जान ले। यदि तुम अपने आपको जान लोगे, तो तुम ईश्वर को भी जान जाओगे। यदि तुम ईश्वर को जान लोगे, तो तुम ईश्वर सदृश हो जाओगे। सुनहरे या बढिया कपडे पहिनने से नही, वरन् अच्छे कार्य करने एव अपनी आवश्यकताओ को कम से कम करने से ईश्वर तुल्य बन सकोगे। (क्लीमेन्ट clement) एन्टीनिसन क्रिश्चियन पुस्तकालय (पुस्तक ४, पृ० २७३)

(१०) इस्लाम धर्म

मुसलमान धर्म के प्रवर्तक हज़रत मोहम्मद साहब पैग़म्बर हैं। १४०० वर्ष पूर्व पैग़म्बर साहब ने अरब देश के मक्का नगर में जन्म लिया था। उस समय वहां पर यहूदी, पारसी आदि धर्म का ज़ोर था, वहां की जनता बड़ी कट्टर, अज्ञानता व रूढियो में फसी हुई एवं असहिष्णु थी। अनेक देवताओं की पूजा होती थी। प्रचलित धर्म के रीति रिवाज के विरुद्ध किसी बात के सुनने की, उसमें क्षमता न थी। जो मनुष्य प्रचलित धर्म या रीति रिवाज के विरुद्ध आवाज उठाता या प्रचार करता था, उसको तलवार के घाट उतार दिया जाता था। ऐसी परिस्थिति में, हज़रत मोहम्मद ने जन्म लिया था। वहा की रीति के अनुसार, मोहम्मद साहब अच्छे वक्ता एव घुड़सवार थे। वे बचपन से ही विचारशील थे। हीरा पर्वत की गुफा में, कितने ही दिनो तक रहकर, तप व ध्यान किया था और उन्हें ईश्वरीय ज्ञान प्राप्त हुआ था।

मोहम्मद साहब ने अपने धर्म का प्रचार, संतुलित भाषा में, प्रारम्भ किया। इस पर भी उनका विरोध बढने लगा। उनके कुछ अनुयायी हो गये। उन पर आक्रमण हुआ। मोहम्मद साहब ने अपने अनुयायियों की सहायता से, आक्रमणकारियो पर विजय पाई। उनके अनुयायी बढने लगे एवं उनके धर्म मे भी तलवार के ज़ोर के साथ साथ वृद्धि होने लगी। मोहम्मद साहब, धर्म प्रवर्त्तक के साथ साथ, देश के भी शासक हो गये।

यह स्वभाविक ही था कि वहा की परिस्थिति का प्रभाव मोहम्मद साहब के धर्म एव उपदेश पर पड़ता। इसलिये मोहम्मद साहब द्वारा रचित क़ुरान में धर्म, समाज, न्याय, राजनीति आदि अनेक विषयों पर आयते (पद) हैं। कितनी बातें अलकारिक भाषा मे कही गई हैं और

कितने ही स्थानो पर सत्य छिपा हुआ है। वहां की जनता कठोर सत्य सुनने के अयोग्य थी। यदि सत्य स्पष्ट कहा जाता, तो संभव था कि सत्य वक्ताओं को अपने जीवन से हाथ धोना पड़ता।

मोहम्मद साहब ने स्वयं पवित्र पुस्तक क़ुरान मे कहा है कि पैग़म्बर प्रत्येक देश व युग मे उत्पन्न होते है और वे सब एक ही वास्तविक सत्य का उपदेश देते हैं। भिन्न-भिन्न भाषा एवं तरीक़े से कोई भेद नहीं पड़ता।

साधारण मुसलमान जनता इस जगत को खुदा (ईश्वर) का बनाया हुआ मानती है। समस्त प्राणी समाज का निर्मापक ईश्वर है। वही मनुष्य को, मृत्यु के पश्चात् न्यायदिवस के दिन, उसके पुण्य कर्मों के अनुसार, स्वर्ग में भेज देता है, जहा वह अनन्त काल तक स्वर्ग का सुख भोगता है। वही मनुष्य को, उसके पाप कर्मों के अनुसार, नरक में डाल देता है, जहां चिरकाल तक नरक की यातनाये सहन करता है।

मोहम्मद साहब ने अपने अनुयायियों के ईमान (श्रद्धा) लाने पर ज़ोर दिया है। प्रत्येक सच्चे मुसलमान को ईश्वर, न्यायदिवस व पैग़म्बर मोहम्मद साहब पर, विशेष कर, ईमान लाना चाहिये और परोपकार के कार्य में लगना चाहिये। उन्होंने अपने अनुयायियों के लिये, निम्नलिखित धार्मिक कार्य निश्चय किये हैं:—

(१) नमाज़ पढ़ना (प्रार्थना)—५ बार नमाज़ पढ़ी जावे, जिसमें ईश्वर की स्तुति होती है। शुक्रवार के दिन विशेष कर नमाज़ पढ़ी जावे।

(२) रोज़ा (उपवास) रखना—आत्म शुद्धि व इन्द्रियवासना पर नियंत्रण प्राप्त करने के लिये, उपवास रखा जावे। इसके लिये रमज़ान का मास विशेष कर नियत किया गया है, जिसमें भोजन एवं जल का त्याग दिन मे बतलाया गया है, केवल रात्रि मे भोजन किया जाता है। इन दिनों मे हल्का भोजन एवं अपने विचार व इन्द्रियों को वश मे रखना चाहिये। इन दिनों में अपशब्द कहना, क्रोध, दाह आदि भावना का रखना निषिद्ध ठहराया गया है।

(३) हज (तीर्थयात्रा) करना—मक्का तीर्थस्थान पर जाना। इस तीर्थयात्रा में अत्यन्त शुद्ध रहने का आदेश दिया गया है, जीवों की हत्या करना भी निषिद्ध बतलाया गया है।

(४) जकात (दान)—बुभुक्षित, दुखित, ऋणी व्यक्तियों की सहायता, क़ैदी व्यक्तियों की मुक्ति आदि धार्मिक कार्यों में धन व्यय करने का उपदेश दिया गया है।

जनता के चारित्र को उन्नत करने के हेतु, मोहम्मद साहब ने अपने अनुयायियो को नम्र, पवित्र, सहिष्णु आदि रहने का उपदेश दिया है। सच्चे मुसलमान को, अपनी प्रिय से प्रिय वस्तु के त्याग के लिये, तैयार रहना चाहिये। माता पिता की सेवा और आपस मे भ्रातृभाव व प्रेम के साथ बर्तना चाहिये।

मुसलमानों मे सूफियो का एक बडा दल है, जो कुरान की भाषा को अलकारिक समझता एव उसकी व्याख्या भी अलकारिक ढग से करता है। ये सूफी बड़े दार्शनिक हुए है। ये अपनी व्याख्या को गुप्त रखते थे। साधारण मनुष्य से अपना समझा हुआ सत्य नहीं बतलाते थे। ये सूफ़ी आत्मा को ज्ञान-आनन्दमय मानते हैं और अपने आपको भी स्वय "ईश्वर समझते है।" इनकी धारणा वैदान्तिक सदृश है। ये सूफी अपने सत्य गुप्त विचारो को अयोग्य, कुपात्र व्यक्ति को नही बतलाते थे, यदि उसने (अपात्र व्यक्ति ने) अप्रसन्न होकर, साधारण जनता से कह दिया, तो उनको राजदड सहना पडेगा। हलाज के मसूर नामी विख्यात सूफ़ी के मुख से—आत्मिक आनन्द मे मस्त हो जाने पर—शब्द निकल पड़े "मै ईश्वर हूं" (انا الحق)। उसको इस कथन के लिये, प्राणदंड की सजा भुगतनी पड़ी।

प्राचीन मुस्लिम विद्वान व दार्शनिक श्री इब्नेरूश्द[1] क़ुरान की भाषा

---

[1] श्री इब्नेरुश्द स्पेन देश के कारडोवो (Cardovo) नगर में

को अलकारिक मानते थे और अर्वाचीन मुस्लिम विद्वान श्री खाजा खां (Mr. Khaja Khan) ने भी "तसव्वफ के अध्ययन" (Studies in Taswuf) नामी पुस्तक मे स्वीकार किया है कि इस्लाम धर्म की पवित्र पुस्तक कुरान अलकारिक भाषा मे लिखी हुई है। विद्वान अग्रेज श्री जे० पी० ब्राउन (J. P Brown) ने "दर्विशज" (Dervishes) नामी पुस्तक मे कुरान शरीफ को अलकारिक भाषा मे होना लिखा है।

कुरान शरीफ मे गाय के बलिदान की एक कहानी दी हुई है, जिसका हिन्दी अनुवाद, श्री सेल द्वारा रचित अग्रेजी कुरान शरीफ के अनुसार, दिया जाता है। इस कथा से स्पष्ट है कि इसकी भाषा अलकारिक है —

एक मनुष्य न, अपनी मृत्यु के समय, अपना पुत्र शिशु व एक बछिया छोडी, जो पुत्र की युवा अवस्था तक जगल मे घूमती रही। उसकी माता ने कहा कि बछिया तेरी है, तू उसको जगल से ले आ और बाजार मे जाकर तीन अशर्फियों मे बेच दे। वहा देवदूत ने, मनुष्य के रूप मे आकर, गाय के मूल्य मे छ अशर्फिया उसको देनी चाही। उसने बिना माता की आज्ञा के नही ली। माता की आज्ञा प्राप्त करके, वह फिर बाजार मे आया और देवदूत से मिला। देवदूत ने गाय के मूल्य मे अब दूनी अशर्फिया देनी चाही इस शर्त पर कि वह माता से इस बात को न कहे। नवयुवक इस बात को अस्वीकार करके, अपनी माता के पास आया और अधिक मूल्य प्राप्त होने की बात कही। माता ने यह समझ कर कि वह देवदूत है, अपने पुत्र से कहा कि उसके पास जाओ और उससे पूछो कि इस गाय

बारहवीं शताब्दी में उत्पन्न हुए थे और वहां पर Averros के नाम से प्रसिद्ध है। इन्होने बहुत सी पुस्तकें लिखी हैं, देखो Outlines of Islamic Culture by Mr. A. M. A. Shustery.

का क्या किया जावेगा। इस पर देवदूत ने नवयुवक से कहा कि अल्पकाल में ही, इसराइल (Israel) के पुत्र इसको बहुत अधिक मूल्य में मोल लेंगे। कुछ समय पश्चात्, हेमल नामी एक इसराइल को एक सम्बन्धी ने मार डाला और इस घटना को छिपाने के लिये, उसकी लाश को घटना-स्थल से बहुत दूर ले गया। बधित व्यक्ति के मित्रो ने, मूसा पैग़म्बर के सामने, अन्य मनुष्यो पर इस दोष का आरोपण किया। उनके अस्वीकार करने एवं किसी साक्षी के न होने पर, पैगम्बर साहब ने एक गाय का—जो अमुक चिन्ह की हो—बलिदान करने का आदेश दिया। अनाथ नव-युवक की गाय के अतिरिक्त, अन्य कोई गाय उस चिन्ह की न थी, इसलिये उन्होने उस गाय का इतना अधिक स्वर्ण दिया, जितना उसकी त्वचा (खाल) मे आ सकता था। कुछ कहते है कि गाय के वज़न का स्वर्ण दिया और कुछ की सम्मति मे, वजन से भी दस गुणा स्वर्ण था। उस गाय का बलिदान किया गया और उस बधित व्यक्ति की लाश का स्पर्शन कराया गया। वह मृत पुरुष जीवित हो उठा और अपने बधिक का नाम बतला दिया। वह मनुष्य तत्काल गिरकर मृत्यु को फिर प्राप्त हो गया।

यदि इस कथा का अर्थ शाब्दिक लिया जावे, तो वह बुद्धि अग्राह्य है। यदि इस कथा को अलकारिक समझा जावे, तो यह एक महान सत्य की द्योतक हो जाती है। श्री जलाल उद्दीन रूमी—जो मुस्लिम जगत में, विशेष कर सूफी समाज मे, उच्च स्थान रखते है—इस आख्यायिका के सम्बन्ध मे (इलहाम मजूम भाग २, प० १५७-५८) कविता रची है, जिसमें गाय को नफ्स (इन्द्रिय वासना) बतलाया है। इस कविता के पढने से स्पष्ट है कि वे इस कथा को अलंकारिक समझते थे। इस कथा के अलंकार की व्याख्या श्री सी० आर० जैन ने "असहमत संगम" (confluence of opposites) नामी पुस्तक मे बड़े सुन्दर शब्दों मे की है, जो निम्न प्रकार है :—

"शिशु से अर्थ ससारी आत्मा का है, अनाथ से तात्पर्य है, कि उसका

रक्षक कोई नहीं है। बछिया एवं गाय से अर्थ नफ़्स अर्थात् मन व इन्द्रिय से है। जंगल की उपमा संसार से दी गई है, जिसमें प्राणी भटकता फिरता है। माता से अर्थ बुद्धि का है। बाजार का अर्थ जगत से है। तीन अशर्फ़ियों से अर्थ है आवश्यकता, आराम एवं ऐश की वस्तुओं से। देव-दूत से अर्थ है, उस मनुष्य के पूर्व पुण्य कर्म का फल। इसराइल से—जो मृत्यु को प्राप्त हुआ—तात्पर्य शुद्ध आत्मा से है, जो प्रकृति (इन्द्रियवासना) के संयोग से अशुद्ध हो गया है। इस कथा का तात्पर्य यह है कि मनुष्य जब बड़ा हुआ और उसके बुद्धि उत्पन्न हुई, तो उस (बुद्धि रूपी माता) ने प्रेरणा की कि तू खेल कूद मे समय व्यतीत मत कर, अपनी इन्द्रिय वासना को वश मे करके, व्यापार कर, जिससे तेरी सांसारिक आवश्यकताये पूरी एव कुछ वस्तुये आराम व ऐश की भी प्राप्त हो जावेगी। जब वह इन्द्रियो को वश मे करके, व्यापार मे लगा, तो उस समय पूर्व पुण्य कर्म की भावना ने प्रेरित किया कि तू मूर्ख है, यदि तू इन्द्रिय एव मन को सयमित रख सकता है, तो तुझको उपरोक्त तीनो प्रकार की वस्तुये ही नही, वरन् बहुत कुछ सुख की सामग्रिया प्राप्त हो सकेगी। जब बुद्धि इस बात के लिये तय्यार हो गई कि अधिक सयम द्वारा मन एवं इन्द्रिय वासना (नफ्स=गाय) को वश मे कर ले, तो पूर्व पुण्य कर्म ने फिर प्रेरणा की, कि यदि तू मन एवं इन्द्रियो को पूर्णतया वश में कर लेगा, तो तू अनुपम आनन्द को—जो अमूल्य है—प्राप्त कर सकेगा।

इस कथा का पिछला भाग उस वादविवाद से सम्बन्ध रखता है, जो भौतिकवादी (Materialist) और आध्यात्मिक (Spiritualist) मे, आत्मा के सम्बन्ध मे, चला आता है कि आत्मा क्या पदार्थ है ? और क्यों ऐसी दशा मे है ? इसके निर्णय के लिये एक ऐसे आचार्य की आवश्यकता हुई, जिसने इन्द्रियो को दमन करके ज्ञानानन्द अवस्था को प्राप्त कर लिया है। वह ससारी आत्मा (मृत इसराइल) आचार्य के पास—जो इन्द्रियो (नफ्स=गाय) को वश मे करके जितेन्द्रिय हो गये है—

गया। आचार्य के दर्शन एवं उपदेश (स्पर्शन) से उसका भ्रम हट गया एवं वह फिर आध्यात्मिक (जीवित) हो गया। ऐसा होने पर फिर बाह्य शरीर को त्याग कर, मुक्त अवस्था को प्राप्त हो गया (अर्थात् उसका बाह्य शरीर पृथक हो गया)। इस प्रकार उपरोक्त कथा को यदि अलकारिक समझा जावे, तो वह एक बडे सत्य की द्योतक हो जाती है।

क़ुरान की आयतों (पदों) से स्पष्ट है कि ईश्वर किसी के साथ अन्याय नही करता है। मनुष्य जैसे कर्म करता है, उन्ही के अनुसार वह फल देता है।

आत्मा ने जो पुण्य कर्म किये है, उनके सस्कार उसके साथ हैं। जो बुरे कर्म किये है, उनके भी बुरे संस्कार उसके साथ है (कुरान २, पृ० २८६)

अरे मनुष्य जो आपत्ति तेरे ऊपर आती है, वह तुझसे ही उत्पन्न हुई है। (कुरान ४, पृ० ७९)

जो विपत्ति तुम्हारे ऊपर आती है, वह इस कारण से है कि तुमने उसको अपने हाथों से किया है। (क़ुरान ४२, पृ० ३०-३२)

ईश्वर मनुष्य के साथ कोई अन्याय नही करता है, मनुष्य स्वयं अपने साथ अन्याय करता है। (कुरान ५०, पृ० ४४)

मनुष्य के अतिरिक्त, पशु पक्षियो मे भी आत्मा मानी है। कुरान (अध्याय २४) मे कहा है "क्या तू नही देखता कि पृथ्वी व स्वर्ग के समस्त प्राणी ईश्वर की स्तुति करते है और पक्षी भी अपने पर फैला कर।

अलबयान (Al Bayon) में कहा है कि "इन्द्रियां" मनुष्य के ही केवल नही, ईश्वर का यह उपहार, पशु जगत तक ही नहीं, अपितु वनस्पति तक पहुचता है। उनकी प्रवृत्ति, बच्चों के पालने की

रीति,[1] भोग्य पदार्थों के सग्रह, पारस्परिक प्रेम, शत्रुओ से घृणा, अपनी हानि व लाभ का समझना, रोगियो की सेवा शुश्रूषा आदि से विस्मय होता है। इनसे स्पष्ट है कि उनके इन्द्रिया होती है और उनको ज्ञान होता है।

आत्मा के सम्बन्ध मे मोहम्मद साहब से प्रश्न किया गया, तो उन्होने उत्तर दिया कि आत्मा ईश्वर के आदेश से है[2]। यह अस्पष्ट भाषा म है जिसका अर्थ गुप्त है। उसका वास्तविक अर्थ अरब के तत्कालीन प्रचलित विचार से अवश्य भिन्न होगा, नही तो व स्पष्ट भाषा म उत्तर देते।

---

[1] देखो क़ुरान श्री सेल द्वारा अग्रेजी भाषा में रचित।

[2] श्री ख़ाजा ख़ा ने इस्लामी दर्शन (Philosophy of Islam) में सम्बन्धित आयत को अग्रेजी में 'By command of God" के शब्दो में उल्था किया है।

५---उपसंहार

दर्शन व धर्मों के उपरोक्त सक्षेप वर्णन से स्पष्ट है कि इन प्रचलित धर्मों मे कहा तक समानता एव मतभेद है और उस मतभेद के कारण क्या है। पाठको के लाभार्थ यह समानता सक्षेप मे निम्न प्रकार कही जा सकती है —

१ समस्त ही प्रचलित धर्मों ने मनुष्य के अन्तर्स्थित ज्ञान एव भावना युक्त पदार्थ को आत्मा माना है और इस आत्मा को सूक्ष्म, अमूर्त्तिक, इन्द्रिय अगोचर एव भौतिक पदार्थ के गुणो से विलक्षण गुणधारी बतलाया है।

२ सर्व ही धर्मों की धारणा है कि यह मनुष्य मोह के कारण, इन्द्रिय वासना की तृप्ति को ही सुख मान लेता है। विषय वासना, वास्तव मे, सुख नही है, वरन् दुख रूप है। सासारिक सुखो की प्राप्ति मे सलग्न होने से, मनुष्य मे काम, क्रोध आदि अनेक अशुभ भावना व क्षुद्र वृत्तिया उत्पन्न होती है, जिनसे मनुष्य को भविष्य मे दुख उठाना पडता है एव उसका नैतिक पतन हो जाता है। इसलिये समस्त धर्मों ने, सासारिक सुख एव विषय वासना की तृप्ति को हेय बतलाकर, सयम द्वारा, इन पर विजय प्राप्त करना निश्चित किया है।

समस्त धर्मों का उपदेश है कि जीवो पर दया करनी चाहिये, किसी भी प्राणी को सताया न जावे। दुखित मनुष्यो को दुख से मुक्त कराना, भूखो को भोजन कराना, रोगियो को औषधि देना एव उनकी सेवा करना मनुष्य मात्र का कर्त्तव्य है। समस्त मानवसमाज को, अपने सदृश समझ कर, प्रत्येक व्यक्ति के साथ, भ्रातृभाव मे बर्तना चाहिय। सब ही धर्मों न असत्य को त्याज्य बतलाया है। अप्रिय, कठोर, निन्द्य, अहकारयुक्त

वचनो की निन्दा की है। दैनिक व्यवहार मे छल रहित, स्पष्ट एव शिष्टता का व्यवहार करने का आदेश दिया है। मदिरा आदि मादक वस्तु का—जिसके प्रयोग से मनुष्य मदोन्मत्त होकर अज्ञानी हो जाता है एव अनेक प्रकार के दुष्कर्म कर डालता है—सर्वथा निषेध किया है। जुआ—जो अन्याय का मूल है, लोभ आदि क्षुद्र वृत्तियो का वर्द्धक है व जिससे अनेक अनर्थ होते हैं—सर्वथा त्याज्य कहा है।

प्रत्येक धर्म ने चोरी की निन्दा की है। किसी मनुष्य की धन सम्पत्ति धोखा देकर अपहरण करना, धरोहर हज़म कर लेना, अन्याय द्वारा धनोपार्जन करना आदि कार्य को घृणित बताया है। स्त्रियो के साथ भोग विलास मे रत रहने को त्याज्य कहा है। अपनी विवाहिता स्त्री के अतिरिक्त, समस्त स्त्री समाज को माता बहिन के तुल्य समझने का आदेश दिया है। पर स्त्री को काम वासना की दृष्टि से देखना पाप बतलाया है। भारतवर्ष के समस्त धर्मों ने तो पूर्ण ब्रह्मचारी रहना श्रेष्ठ समझा है। उस व्यक्ति के लिये—जो आत्मकल्याण एव अन्तर्स्थित ज्ञान-आनन्द स्वरूप प्राप्त करने का उत्सुक है—सन्यास मार्ग का उपदेश दिया है एव विवाहिता स्त्री को भी त्याज्य कहा है।

मन, इन्द्रिय एव इच्छाओ पर नियत्रण प्राप्त करने के लिये, भोग व उपभोग की सामग्रिया सीमित की जावे। सादा जीवन व्यतीत करने के लिये, सासारिक आवश्यकताओ को घटाया जावे। केवल उन्ही वस्तुओ का उपयाग किया जाय, जिनके बिना शरीरयात्रा कठिन हो। क्रोध, अहकार आदि दुर्भावना एव क्षुद्र वृत्तियो को नष्ट करके, उनके स्थान पर, दया प्रेम आदि सद्भावना एव उच्च वृत्तियो की वृद्धि की जावे।

३ समस्त प्रचलित धर्मों ने घोषित किया है कि मनुष्य को इस मानव जीवन के पश्चात्, परलोक मे गमन करना है। यदि वह इस जीवन मे शुभ कर्म करेगा, इन्द्रियो का दास होकर विषय वासना मे लिप्त न होगा,

तो उसको परलोक में सुख मिलेगा एवं स्वर्ग में जावेगा, जहां चिरकाल तक सुख भोगेगा। यदि मनुष्य पाप कर्म करेगा, अन्य जीवों को सतावेगा, अन्याय से धनोपार्जन करेगा, विषय वासना में रत रहेगा, तो परलोक मे दुख भोगेगा एवं नरक में जावेगा, जहा चिरकाल तक अनेक प्रकार की यातनाये सहन करनी होगी।

भारतीय धर्मों के अनुसार, ज्यों-ज्यों मनुष्य सयम द्वारा, इन्द्रिय वासना, सासारिक इच्छा तथा क्षुद्र वृत्ति पर विजय एवं तपस्या द्वारा पूर्व संचित कर्मों का विनाश करता जावेगा, त्यो-त्यो उसका आत्मा शुद्ध एव उन्नत होता जावेगा। एक समय ऐसा आ जावेगा, जब वह समस्त कर्म जाल को नष्ट करके, शुद्ध हो जावेगा, उसके दिव्य ज्ञान मे समस्त लोक के पदार्थ आलोकित होने लगेगे। पवित्र मोक्ष स्थान मे पहुच कर, अनन्त काल तक, अनुपम अलौकिक आनन्द मे मग्न रहेगा। यदि ईसाई व मुसलमान धर्मों की पवित्र पुस्तको की भाषा को अलकारिक माना जावे, तो ये धर्म भी, भारतीय धर्मों के सदृश ही, आत्मा को उन्नत बनाकर, परमात्म अवस्था तक पहुचने का मार्ग बतलाते है।

४. प्रत्येक धर्म की धारणा है कि मनुष्य जैसा कर्म करता है, उसके अनुसार ही उसको फल मिलता है। जिन धर्मों ने ईश्वर को कर्ता या कर्म फलदाता माना है, उनकी भी यही मान्यता है कि मनुष्य जैसा कर्म करता है, उसके अनुसार ही, ईश्वर कर्मफल देता है। ईश्वर किसी प्राणी के साथ अन्याय नही करता है।

भारतीय धर्मों की तो यही धारणा है कि मनुष्य अपने कर्मों के कारण, इस ससार मे भ्रमण कर रहा है, नाना प्रकार की योनियो में शरीर धारण करता है। जैन, बौद्ध, योग, साख्य एव वेदान्त दर्शनो के अनुसार, कोई अन्य चेतन शक्ति ईश्वर कर्मों का फल नही देता है, प्राणी को अपने पूर्व कर्मों का फल स्वमेव (उपरोक्त निर्धारित कर्मसिद्धान्त से न्यूनाधिक मिलती जुलती पद्धति पर) मिलता रहता है। ईसाई व मुसल्मान धर्मों

के अनुसार भी, ईश्वर न्यायदिवस पर, प्राणियो को, उनके कर्म अनुसार, स्वर्ग अथवा नरक मे भेज देता है।

यदि इस पुस्तक के अध्ययन व मनन करने से, पाठकों के हृदय में, अध्यात्मिक ज्ञान का विकास, भिन्न-भिन्न धर्मों के प्रति सहिष्णुता व आत्म उन्नत करने की भावना उत्पन्न हुई, तो लेखक अपने प्रयास को सफल समझेगा।

इति

वीर सेवा मन्दिर
पुस्तकालय
काल न० 232 जैन
लेखक जैन रतनलाल
शीर्षक आत्म-रहस्य
खण्ड क्रम सख्या 4404